ता पानी
र्मला

गीरथ कानोडिया



बहता पानी निर्मला

राजस्थान-अंचल की मनोरंजक, बोधप्रद एवं ऐतिहासिक लोक-कथाएं और कहावतों की कहानियां

भागीरथ कानोडिया

१९७४
सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल,
नई दिल्ली



दूसरी बार : १९७४
मूल्य : पांच रुपये



मुद्रक
राष्ट्रभाषा प्रिन्टर्स
२२-ए नारायणा इन्डस्ट्रियल एरिया
फेस II, नई दिल्ली-२८

प्रकाशकीय

'सस्ता साहित्य मंडल' से अबतक अनेक कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिन्हें पाठकों ने बहुत पसंद किया है। उनमें से कई एक के तो नये-नये संस्करण होते रहे हैं।

प्रस्तुत संग्रह में हैं तो कथा-कहानियां, लेकिन आधुनिक कहानियों तथा लोक-कथाओं से ये भिन्न हैं। इनमें कुछ ऐतिहासिक हैं, कुछ कहावतों पर आधारित हैं, पर कुछ ऐसी भी हैं, जो जन-सामान्य के बीच प्रचलित हैं। इन सब कहानियों की तीन विशेषताएं हैं :

१. ये सभी पाठकों, विशेषकर जन-सामान्य, के लिए बहुत ही उपयुक्त हैं।

२. बोधप्रद हैं।

३. मनोरंजक हैं।

इन कहानियों का पटल राजस्थान है। अतः इनमें राजस्थानी रंग है और राजस्थानी के शब्दों एवं कहावतों का खूब प्रयोग हुआ है, पर राजस्थानी के शब्द और कहावतें इतनी सुगम हैं कि उनका अर्थ सहज ही समझ में आ जाता है। क्लिष्ट शब्दों तथा कहावतों के अर्थ पाद-टिप्पणियों में दे दिये गए हैं।

सभी कहानियां इतनी सजीव और रोचक हैं कि छोटा-बड़ा, उच्च शिक्षित अथवा अल्प-शिक्षित, जो भी इन्हें पढ़ना आरम्भ करेगा, पूरी पुस्तक समाप्त किये बिना नहीं छोड़ सकेगा।

हमारा अनुरोध है कि पाठक पुस्तक को पढ़ें, उसका रस ग्रहण करें और यदि संभव हो, तो कहानियों से शिक्षा भी प्राप्त करें।

—मंत्री

दो शब्द

कहानियां, लोकोक्तियां, मुहावरे और लोक-कथाएं सुनने-सुनाने की रुचि मेरी बराबर ही रही है। मेरे कुछ मित्रों और परिजनों का यह आग्रह था कि जो कहानियां आदि मैं उन्हें सुनाता रहा हूं, उनको लिपिबद्ध कर दूं, लेकिन मैं टालता रहा। अब जब पं० कन्हैयालालजी सहल ने, जो कि मेरे अच्छे मित्र हैं तथा राजस्थानी और हिन्दी के माने हुए विद्वान भी, मुझसे कहा कि मैं 'मरु-भारती' के कहानी-अंक के लिए कुछ कहानियां लिखकर भेजूं तो मैं उनकी बात टाल नहीं सका। फलस्वरूप इतनी सारी कहानियां लिख गया हूं। कहानियां लिखने बैठा तब न तो यह कल्पना ही थी और न यह इरादा ही था कि कहानियों की संख्या इतनी हो जायगी, लेकिन लिखने बैठा तो एक के बाद एक याद आती गई और मैं लिखता चला गया। कुछ मित्रों का, खासकर श्री यशपालजी जैन का, यह सुझाव रहा कि इन कहानियों को अलग से पुस्तक रूप में भी छाप देना ठीक रहेगा और उस सुझाव के अनुसार यह पुस्तक आपके हाथ में है।

कहानियों को संवारने में श्री यशपालजी ने मेरी काफी मदद की है तथा उन्होंने इसकी भूमिका भी लिख दी, इसके लिए मैं उनका अत्यन्त आभारी हूं।

मैं पाठकों को यह बता देना चाहता हूं कि इन कहानियों में मेरी अपनी गढ़ी हुई कहानी एक भी नहीं है। बीज रूप में या कथानक रूप में अधिकांश कहानियां तो मेरी बचपन में सुनी हुई हैं और कुछेक इन दिनों में इधर-उधर पढ़ी या सुनी हुई हैं। लेकिन हां, उनमें परिवर्तन और परिवर्धन मैंने अपनी रुचि के अनुसार अवश्य किया है। कहानी लिखते समय मैंने यह ध्यान रखा है कि इनमें 'सीख-रीझ' का समावेश हो सके तथा भाषा दुरूह न हो।

कहानियां कैसी बनी हैं, इसका निर्णय तो पाठक ही कर सकेंगे। अपनी

ओर से तो मैं इतना ही कहना चाहता हूं कि अगर इनमें से कुछ कहानियाँ भी पाठकों को पसन्द आ गईं, तो मैं अपना परिश्रम सफल मान लूंगा।

यहां यह लिख देना भी आवश्यक समझता हूं कि कहानियों में राजस्थानी शब्द और उक्तियां काफी संख्या में आई हैं, जिनसे गैर-राजस्थानी भाइयों के लिए ऐसे स्थलों को समझना थोड़ा मुश्किल हो सकता है, लेकिन मुझे भाषा का यह आंचलिक रूप अपने मन में अधिक रुचा, क्योंकि मुझे लगा कि इनके बिना कहानी में पूरा रस नहीं आयगा। अतः उन पाठकों से मैं क्षमा याचना कर लेता हूं। फिर भी जहां-जहां ऐसे स्थल आये हैं, उनके भावार्थ 'पाद-टिप्पणी' में दे दिये गए हैं।

दूसरा संस्करण

मुझे हर्ष है कि पुस्तक का यह दूसरा संस्करण पाठकों के हाथों में पहुंच रहा है। इसमें पहले संस्करण की भाषा में कुछ सुधार तथा घटा-बढ़ी कर दी है, कई कहानियां जोड़ दी हैं और कहानियों का वर्गीकरण कर दिया है।

कागज, छपाई आदि के मूल्य में असाधारण वृद्धि हो जाने पर भी सस्ता साहित्य मंडल ने पुस्तक का मूल्य बढ़ाने के बजाय घटा दिया है।

—भागीरथ कानोड़िया

इण्डिया एक्सचेन्ज,
कलकत्ता--१

भूमिका

प्रस्तुत संग्रह के लेखक की कहावतों पर आधारित कतिपय कहानियां कुछ समय पूर्व मासिक पत्र 'जीवन-साहित्य' में प्रकाशित हुई थीं। वे कहानियां इतनी रोचक और मनोहारी थीं कि जिसने भी उन्हें पढ़ा, उनसे प्रभावित हुए विना नहीं रहा। उन कहानियों की प्रमुख विशेषता यह थी कि उनका चुनाव वड़े अच्छे ढंग से किया गया था और उनकी वर्णन-शैली बहुत ही प्रभावशाली थी।

मुझे लगा कि वैसी कहानियां पाठकों को और अधिक सुलभ होनी चाहिए। मैंने लेखक को लिखा, वार-वार अनुरोध किया, लेकिन अपनी व्यस्तताओं के कारण, इच्छा होते हुए भी, वह समय न निकाल सके। वाद में हमारे मित्र, हिन्दी के विद्वान एवं शिक्षा-शास्त्री, डा० कन्हैया-लाल सहल ने उनसे आग्रह किया और उनके सामने प्रस्ताव रक्खा कि वह जितनी कथा-कहानियां लिखेंगे, उन्हें वे एकसाथ अपनी पत्रिका 'मरु-भारती' में प्रकाशित कर देंगे। इस प्रकार हम लोगों का लेखक पर विशेष दवाव पड़ा, तो वह उसे अमान्य न कर सके। उन्होंने समय निकाला और कहानियां तैयार कीं।

जब मैंने उस पाण्डुलिपि को पढ़ा और उसकी कुछ कहानियां लेखक के मुंह से सुनीं तो मुझे उनमें बड़ा रस आया और मेरी स्वाभाविक इच्छा हुई कि वे पुस्तक के रूप में प्रकाशित हों, जिससे अधिक-से-अधिक पाठक उनका लाभ ले सकें। लेखक से चर्चा हुई तो उन्होंने न केवल उनके लिए अपनी स्वीकृति दी, अपितु कुछ और नई कहानियां भी लिख दीं। मुझे हर्ष है कि मेरी इच्छा पूर्ण हुई और पुस्तक पाठकों के हाथों में पहुंच रही है।

पुस्तक की सामग्री को पांच वर्गों में विभाजित किया जा सकता है:

१. वोधप्रद कथाएं

२. लोक कथाएं
३. कहावतों की कथा-कहानियाँ
४. ऐतिहासिक कथाएं
५. मनोरंजक कथाएं

लोक-कथाओं का प्रचलन हमारे देश में ही नहीं, सारे संसार में है। जिन दिनों यातायात के साधन नहीं थे, अथवा बहुत ही सीमित थे, उन दिनों भी लोक-कथाओं की यात्रा होती रहती थी। यह देखकर विस्मय होता है कि एक ही कथानक पर आधारित कथाएं न केवल भारत की विभिन्न भाषाओं में मिलती हैं, बल्कि थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ विदेशी भाषाओं में भी पाई जाती हैं।

यद्यपि आज लोगों की रुचि में परिवर्तन हो गया है और नई-नई विधाओं में नई-नई कहानियां जन्म ले रही हैं, तथापि लोक-कथाओं को जन-मानस में वही स्थान प्राप्त है, जो पहले था। इसका कारण यह है कि लोक-कथाएं छोटे-बड़े सबके लिए दिलचस्पी की चीज़ होती हैं। गांवों में आज भी जाड़े के दिनों में लोग एक स्थान पर आग जलाकर उसके निकट बैठ जाते हैं, एक आदमी कहानी कहना आरम्भ कर देता है, दूसरे सुनते हैं। कोई-कोई कहानी तो कई-कई रात तक चलती है, पर क्या मजाल कि श्रोता ऊब जायं ! कहानियों में संभव-असम्भव सभी प्रकार की बातें आती हैं---- शंकर-पार्वती विमान में आते हैं, पक्षि-पक्षी मनुष्यों की बोली में बात करते हैं और ऐसी-ऐसी बातें होती हैं, जिन्हें बुद्धि की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। वस्तुतः लोक-कथाओं में मुख्य वस्तु कुतूहल होती है, क्योंकि उसके बिना श्रोता मनोयोग से उन्हें सुन नहीं सकते। कहानियां सुनते-सुनते वे विभोर हो उठते हैं और पात्रों के सुख-दुख के साथ एकाकार हो जाते हैं, सम्भव-असम्भव के बीच भेद करने की उनकी चेतना ही नहीं रहती।

लेकिन इस संग्रह की लोक-कथाएं उनसे भिन्न हैं। इनमें न राजा है, न राजकुमारी, न ये बहुत लम्बी हैं और न इनमें अंतर्कथाएं ही हैं। छोटे-छोटे लौकिक या अलौकिक प्रचलित कथानक लेकर इनकी रचना की गई है, पर सभी कथाओं में कुतूहल और रोचकता है। प्रत्येक कहानी पाठक

को रस में डुबो देती है । 'सूरज और राणादे', 'त्रिया-हठ', 'भक्त और भगवान', 'मृग-शिरा', 'राजा भोज और चार चोर', 'वदलती नैतिक मान्यताएं' आदि कहानियां इसी कोटि की हैं ।

कहावतों पर आधारित कथा-कहानियों की अपनी विधा और अपनी विशेषता है। जिन सत्यों को सूत्ररूप में कहावतों में व्यक्त किया जाता है, उन्हींको अधिक सरलता तथा स्पष्टता से समझाने के लिए कथा-कहानियां गढ़ी गई हैं। उनका पारस्परिक सम्बन्ध कव से रहा है, यह कहना कठिन है, लेकिन मानना होगा कि ऐसी कहानियों का जन-सामान्य की दृष्टि से अपना महत्व है। वे कहावतों को हृदयंगम कराने में वहुत ही सहायक होती हैं।

इस पुस्तक की कथा-कहानियों में पाठक कहावतें वहुत वड़ी संख्या में पायंगे। लेखक के पास कहावतों का अनन्त भण्डार है । अतः उन्होंने लोक-कथाओं तथा अन्य कहानियों में भी कहावतों का मुक्त रूप से प्रयोग किया है। ये कहावतें जहां कथा-कहानियों को सरसता प्रदान करती हैं, वहां शिक्षा भी देती हैं। किसी-किसी कहानी में लेखक एक कहावत को लेकर चलते हैं, पर कहानी के समाप्त होने पर उसीसे मिलती-जुलती और कहावतें भी दे देते हैं। इस प्रकार वहुत-सी कहानियों में पाठक को अध्ययन की अच्छी सामग्री मिल जाती है। 'कर्जो भलो न बाप को', 'पाप मूल अभिमान', 'कहिये वचन विचारि', 'निन्यानवे का फेर', 'घाघ', 'सासरो सुख वासरो', 'ऊंट विलाई ले गई,' आदि इस वर्ग की अच्छी कहानियां हैं।

वोधप्रद कथाओं को इस पुस्तक की जान कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। इन कहानियों में कोई-न-कोई शिक्षा निहित है और उन्हें पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है, मानो वे आज के युग को ही ध्यान में रखकर लिखी गई हों। लोभ, लालच, प्रमाद आदि सभी युगों में रहे हैं। आज भी हैं। अतः उनको दूर करने के लिए जो शिक्षाप्रद कहानियां लिखी गई हैं, वे आज भी वड़ी सजीव जान पड़ती हैं । 'पंचतंत्र' तथा 'हितोपदेश' की कहानियां इसीसे हमेशा ताजी मालूम होती हैं। 'सदा न रहै', 'तृष्णा और संतोष', 'कंजूसी बुरी, मितव्ययिता अच्छी', 'परिग्रह',

'ब्राह्मण और शेरनी', 'वात का घाव', 'सूत्यां की तो पाड़ा ई जणै' आदि कहानियां चरित्र-निर्माण की शिक्षा देती हैं।

कुछ कहानियां केवल मनोरंजन की दृष्टि से लिखी गई हैं। उनमें न उपदेश देने की कल्पना है और न कोई सारगर्भित वात कहने की। उन कहानियों को पढ़कर पाठक आनन्द लें, वस इतना ही लेखक को अभीष्ट है। इस वर्ग की सवसे मजेदार कहानियां 'चरणों का प्रसाद', 'भोला जंवाई' तथा 'व्याह वेटी का फेरा मां का' हैं।

लेखक राजस्थानी हैं, इसलिए इन कथा-कहानियों की भावभूमि राजस्थानी अंचल है। अधिकांश कहावतें भी उसी क्षेत्र की हैं। लेखक ने अनेक कहानियों में पारिभाषिक शव्दों का प्रयोग किया है। उससे कहानियां अधिक जानदार वन गई हैं, लेकिन उन्होंने शव्दों तथा कहानियों के चयन में इस वात का ध्यान रक्खा है कि राजस्थानी भाषा न जाननेवाले पाठक भी उन्हें समझ सकें। कहीं कोई क्लिष्ट शव्द या मुहावरा आ गया है तो पाद-टिप्पणी में उन्होंने उसका अर्थ दे दिया है, जिससे भाव एवं भाषा सहज हो सके।

हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि इस पुस्तक का केवल मनोरंजन की दृष्टि से ही मूल्य नहीं है, हालांकि मनोरंजन भी अपने-आपमें कम महत्व नहीं रखता, लेकिन पुस्तक का साहित्यिक दृष्टि से भी अपना स्थान है। लोक साहित्य के प्रेमी पाठकों को इसमें वहुत-सी सामग्री ऐसी मिलेगी, जो अन्यत्र दुर्लभ है।

ऐसी सरस, सुपाठ्य तथा सुन्दर कृति पाठकों को देने के लिए लेखक को जितनी वधाई दी जाय, थोड़ी है। हम आशा करते हैं कि उनका लिखने का क्रम जारी रहेगा और आगे और भी उत्तम रचनाएं उनसे प्राप्त होंगी।

—यशपाल जैन

अनुक्रम

बहता
पानी
निर्मला

१ सूरज और राणादे

पुराने जमाने में मान्यता यह थी कि पृथ्वी स्थिर है और सूर्य तथा चन्द्रमा घूमते हैं। यह मान्यता युगों-युगों तक चली। सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में गेलीलियो नाम का एक बड़ा वैज्ञानिक इटली में हुआ और सबसे पहले उसने बताया कि यह मान्यता गलत है। नक्षत्रों की गतिविधि टैलीस्कोप से देखकर उसने यह साबित भी कर दिया। लेकिन तत्कालीन हठधर्मी राज्याधिकारियों ने तो उसकी कदर न करके उल्टा उसे लम्बे अरसे तक जेल में रखा। जो हो, आखिर सत्य तो सत्य ही रहनेवाला है, इसलिए धीरे-धीरे सब लोगों ने गेलीलियो की बात स्वीकार कर ली।

पुरानी मान्यता के अनुसार एक लोक-कथा प्रचलित है जो यहाँ नीचे दी जाती है :

एक दिन जब सूर्यनारायण सारी सृष्टि का चक्कर लगा कर लाली बिखेरते हुए अस्ताचल की ओर जा रहे थे और लोगों को यह सिखाते हुए जा रहे थे कि जिन्दगी जीनी है तो मेरी तरह जीओ—उदय हुआ था याने जन्मा था, तब जितनी शान-शौकत और लाली लिये हुए था, उतनी ही लाली छिटकाता हुआ 'ज्यों-की-त्यों धर दीनी चदरिया' के अनुसार अपना यश धरती पर बिखेरता हुआ जा रहा हूं।

सामने आकाश से उतरती हुई, परी-जैसी सुन्दर, गाजे-बाजे के साथ, नाज-नखरे दिखाती हुई संध्या आती मिली, तो दोनों हाथों से सूर्यनारायण ने उसके कपोलों पर अपनी लाली पोत दी। संध्या राणी निहाल हो गई।

सूर्य की पोती हुई लाली के कारण हर्षित और गर्वित अपने भाग्य पर इतराती-इठलाती, बल खाती, कुछ-कुछ शरमाती-सकुचाती, लाज के कारण

अवगुंठित-सी ठुमक-ठुमक कर चलती, नाचती-थिरकती और घुंघरू वजाती अपनी निराली ही छटा लेकर संध्या राणी धरती पर आई—संध्या याने दिन और रात का संधिकाल, दिन के अवसान और रात के आगमन की सूचना देने वाला काल।

संध्या के आगमन पर चहकते हुए पक्षी अपने नीड़ों की ओर वापस आने लगे। गायें रंभाती हुईं और पैरों से धूल उछालती अपने-अपने बछड़ों से मिलने के लिए उतावली-उतावली अपने-अपने स्थान को लौटने लगीं। गोधूलि का रंग और संध्या का लाल रंग मिलकर एक अजीव समां बंध गया था और ऐसा लगता था, मानो गोधूलि अपने हाथों संध्या सुहागिन की मांग में सिंदूर भर रही हो। रजनीगंधा हर्ष से फूल कर अपनी मस्तानी गंध से लोगों के मन को हर रही थी। मन्दिरों में आरती-पूजा, धूप-दीप और नौवत-नगारे की तैयरियां होने लगीं। लोगों ने 'ॐ अपवित्रः पवित्रो वा' मंत्र के साथ सायंकालीन संध्या आरम्भ कर दी कि इतने में सूर्यनारायण अपने घर पहुंचे।

घर के दरवाजे पर ही उन्हें राणादेजी[1] खड़ी दिखाई दीं जिनका चेहरा गुस्से से तमतमा रहा था और सामने से आते हुए सूर्य की लाली के कारण और भी रक्ताभ हो गया था। सूर्यनारायण एक क्षण के लिए ठिठके, फिर प्यार से उन्हें सहलाते हुए वोले, "क्यों, क्या वात है? आज राणीजी नाराज-सी क्यों दीख पड़ती हैं?"

राणादेजी पर इस सहलाने-पुचकारने का कोई असर नहीं हुआ। उन्होंने गुस्से में भरकर कहा, "मैं दिन-भर घर में अकेली रहती हूं। आप तो प्रातःकाल होते ही निकल जाते हैं और रात-पड़े घर लौटते हैं। कभी-कभी तो मेरी सुध लिया कीजिये। सारी जिन्दगी में एक दिन भी ऐसा नहीं गया है, जव दिन के समय एक क्षण भी आपके साथ वैठकर अपने दुःख-सुख की दो वातें आपको वता सकी हूं या आपके साथ आमोद-प्रमोद के दो क्षण विताकर मन वहला सकी हूं।"

सूर्यनारायण ने कहा, "देवी! तुम कहती हो सो ठीक है, लेकिन मेरे

१. सूर्य भगवान की पत्नी

जिम्मे कुछ काम ही ऐसा है कि मुझे फुरसत ही नहीं मिल पाती। भगवान ने सारी सृष्टि को भोजन पहुंचाने का काम मेरे जिम्मे दे रखा है, अतः जल्दी करते-करते भी देर हो ही जाती है ?''

सूर्यदेव के प्यार-भरे वचन सुनकर राणादेजी कुछ शान्त तो हुईं, लेकिन फिर उन्होंने एक प्रश्न पूछा, "क्या आप प्रत्येक प्राणी को भोजन पहुंचा पाते हैं।

सूर्यदेव ने कहा, "हां, मेरी राणी! मैं 'कीड़ी को कण, हाथी को मण,' इस प्रकार सभी जीवों को पूरता हूं। प्राणी भूखा उठता है, भूखा सोता नहीं। बच्चा पेट में होता है, तभी से मैं उसकी चिन्ता कर लेता हूं।''

राणादेजी ने अपने मन में तय किया कि कल इस बात की परीक्षा लूंगी।

रात को जब वे भोजन करके उठे, तब धरती पर ठाकुरजी के पौढ़ने का समय हो गया था। ठाकुरजी को पौढ़ाने के लिए नौबत का डंका पड़ा और उधर सूर्यनारायण और राणादेजी सोने के लिए अपने शयन-कक्ष में चले गये।

प्रभात होने से पहले जब गंधर्वों ने अपने भैरवी राग से सूर्य को जगाया तो वे सात घोड़ों के रथ पर सवार होकर सतरंगी किरणें छिटकाते हुए, अपने दैनिक नियम के अनुसार पृथ्वी का चक्कर लगाते हुए, प्राणियों को भोजन पहुंचाने के लिए निकल पड़े। इधर राणादेजी ने एक चींटी को उठाकर अपनी सिन्दूर की डिबिया में बन्द कर लिया और सोचा कि देखें, इस चींटी को सूर्यदेव किस तरह भोजन पहुंचाते हैं।

सायंकाल सूर्यनारायण घर लौटे तो राणादेजी ने पूछा, "क्यों, सारे जीवों को, सारे प्राणियों को, भोजन पहुंचा आये ?''

उत्तर 'हां' में मिला तो राणादेजी स्मित-हास्य के साथ बोलीं, "मैं आपको एक ऐसा जीव दिखाती हूं, जो दिन-भर का भूखा है।''

सूर्यदेव ने कहा, "ऐसा होना तो नहीं चाहिए!''

तब राणादेजी ने अपनी अंगिया में खोंसी हुई डिबिया निकाली और उस चींटी को दिखाने लगीं। लेकिन राणादेजी की आँखें तो फटी-की-फटी रह गईं, जब उन्होंने देखा कि सिन्दूर की उस डिबिया में माथे पर टीकी

लगाने के लिए जो चावल का दाना रखा हुआ है, उसे कुतर-कुतरकर वह चींटी खा रही है। राणादेजी लज्जित हो गईं और अपनी भूल के लिए सूर्यनारायण से क्षमा-याचना की।

दिग्-दिगंत में ध्वनि गूंज उठी—सूर्य भगवान की जय !

आओ, हम भी अपना समवेत स्वर उस ध्वनि में मिलाते हुए एक बार जोरों से कहें—सूर्य भगवान की जय ! सृष्टि के पोषण-कर्त्ता की जय !

२ ||||||| परिग्रह

एक साधु था। वह जंगल में झोपड़ी बांधकर रहता था। उसके पास मात्र एक लंगोटी थी और एक कमंडलु। प्रातःकाल गांव में जाकर वह 'गोचरी'[1] कर लाता और जो कुछ नियमित समय में मिल जाता, उतना-सा खाकर दिन-भर भजन-स्मरण करता रहता। उसकी झोंपड़ी से थोड़ी ही दूर पर चरागाह था, जहां ग्वाले अपने पशु चराया करते। कभी-कभी कोई-कोई ग्वाला श्रद्धापूर्वक थोड़ा-वहुत दूध साधु महाराज को भी दे जाता था जिसे वह स्वीकार कर लेते थे, लेकिन कभी किसी ग्वाले से दूध मांगते नहीं थे।

एक वार साधु महाराज की झोंपड़ी में चूहों का उत्पात हो गया और वे चूहे आएदिन वांस पर लटकाई हुई लंगोटी को काटने लगे। अब तो साधु महाराज के लिए मुश्किल हो गई, क्योंकि विना लंगोटी के भिक्षाटन के लिए जाया नहीं जा सकता था और भिक्षाटन के लिए नहीं जायं तो खायं क्या ? अतः दो-चार वार तो गृहस्थों से लंगोटी का कपड़ा मांगकर ले आये, लेकिन जब अक्सर चूहे टंगी हुई लंगोटी को काटने लगे, तो साधूजी को कुछ सूझ नहीं पड़ा कि क्या करना चाहिए। रोज-रोज कपड़ा मांगने के

1. भिक्षाटन

लिए हाथ पसारना उनके मन ने स्वीकार नहीं किया । अन्त में उन्हें एक उपाय सूझ पड़ा । क्यों न एक बिल्ली को पाल लिया जाय, जिससे कोई चूहा आने का साहस ही नहीं करेगा । साधु महाराज ने ऐसा ही किया ।

इससे चूहों की परेशानी तो दूर हो गई, लेकिन अब प्रश्न उठा कि बिल्ली को खिलाया क्या जाय ? बिल्ली स्वस्थ बनी रहे, इसके लिए उसको थोड़ा-बहुत दूध देना भी आवश्यक था । अतः जो ग्वाले श्रद्धा-भक्ति से दूध देने को महाराज की कुटी में आते थे, उन्हींके पास अब स्वयं महाराज को दूध मांगने के लिए जाना पड़ता । कुछ दिनों तो उनको अपनी पुरानी साख के कारण दूध मिलता रहा, कभी किसी ग्वाले से और कभी किसी ग्वाले से, लेकिन आखिरकार इस प्रकार की नित्यप्रति की मांग से सारे ग्वाले तंग आ गये । एक दिन सब ग्वालों ने मिलकर इस बात पर विचार किया और यह तय किया कि आज से साधु महाराज को कोई दूध न दे ।

अब तो साधुजी को और भी मुश्किल हो गई । 'गये थे रोजा छुड़ानें, नमाज गले घल गई' वाली स्थिति हो गई उनकी । भूखी बिल्ली 'म्याऊं-म्याऊं' करती इधर-उधर फिरे । साधु महाराज को दया आई । उन्होंने सोचा, क्यों न एक गाय पाल ली जाय, जिससे अपने को भी दूध मिलता रहेगा और बिल्ली को भी दूध पिला दिया करेंगे । लेकिन प्रश्न यह आया कि गाय खरीदने के लिए पैसे कहां से आवें, क्योंकि साधुजी की त्याग की जो साख थी, वह धीरे-धीरे कम होती जा रही थी । अतः गृहस्थों से पैसा मिलने की आशा धूमिल हो गई थी ।

साधु ने सोचा कि राजा के पास चलना चाहिए, शायद वहां अपनी याचना सफल हो जाय । ऐसा सोचकर वह राजा के पास गये और उन्हें आशीर्वाद देकर अपनी मंशा बताई । राजा ने अपनी गोशाला से एक अच्छी-सी गाय साधु महाराज को दिलवा दी । महाराज तो निहाल हो गए । गाय व वाछे[1] को लेकर झोंपड़ी में आये ।

अब वह भजन-स्मरण की बात तो भूल गये और लग गये उस गाय की सेवा-टहल में । सुबह उठकर वे गाय को दुहते, फिर उसे चराने के लिए

१. गाय का बच्चा; बछड़ा ।

जंगल में ले जाते। आती दफे गाय के लिए घास काटकर ले आते। भागते-दौड़ते गांव में जाकर भिक्षाटन करते और आते ही खा-पीकर फिर गाय की सेवा में लग जाते। गाय दुहकर स्वयं दूध पीते और बिल्ली को पिलाते उन्हें भजन-स्मरण करने के लिए अब बहुत ही कम समय मिलता था। भागते-दौड़ते दो-चार राम के नाम लिये कि भजन की इतिश्री मान लेते थे।

कुछ दिन तो लोग कुछ बोले नहीं, लेकिन आखिरकार किसान लोग साधुजी को अपने खेत में गाय चराने से तथा घास काटने से मना करने लगे। साधुजी ने सोचा, क्यों न दो-चार बीघा जमीन राज्य से अपने नाम लिखा लें, जिससे अपने खाने-भर का अन्न भी हो जायगा और गाय के लिए घास भी। न गांव में भिक्षाटन के लिए जाना पड़ेगा और न किसी ग्वाले से ही कुछ मांगना पड़ेगा। यह सोचकर उन्होंने जमीन का एक छोटा-सा टुकड़ा अपने नाम लिखा लिया और लगे खेती करने।

आदमी भी क्या अनोखा जीव है! उलझनें अपनी बनाकर खुद ही फंसता जाता है! मकड़ी जिस तरह जाला बुनती जाती है और स्वयं ही उसमें कैद होती जाती है, उसी तरह मनुष्य भी अपनी समस्याएं और जरूरतें बढ़ाता जाता है और उसके ताने-बाने में फंसता जाता है।

यही हाल साधु महाराज का हुआ। अनजान में ही वे तो पूरे गृहस्थ हो गए। केवल स्त्री की कमी रही। वह भी शायद पूरी हो जाती, लेकिन सिर और दाढ़ी के सारे बाल सफेद हो चुकने के कारण उन्हें अपनी लड़की दे तो कौन दे?

कुछ वर्ष तो साधुजी के चैन से कट गए, लेकिन मुश्किल तब आई जब आगे चलकर एक साल भयंकर अकाल पड़ा और जिसके कारण खेत में कुछ भी निपजा नहीं। ऐसा होने से वे राज्य को जमीन का लगान नहीं चुका सके। नतीजा यह हुआ कि जिन-जिन लोगों ने लगान नहीं चुकाया था, उन सबकी राज्य में बुलाहट हुई और उन्हें दण्डस्वरूप धूप में खड़ा कर दिया गया। साधुजी भी उनमें से एक थे। बैसाख-जेठ की तपती हुई धूप में खड़े-खड़े साधु महाराज तिलमिला उठे और अपने पुराने दिनों को याद करने लगे कि अपन तो सुख से रह रहे थे, भगवान का नाम जपते थे,

आखिर यह सब क्या हो गया और कैसे हो गया ! सोचते-सोचते उनके ध्यान में आया कि इस सारे खटराग का कारण बस लंगोटी है। अगर लंगोटी न होती तो चूहे क्यों आते, और चूहे न आते तो बिल्ली को क्यों पालना पड़ता ? बिल्ली न होती तो गाय क्यों लाते और गाय न होती तो खेती क्यों करते ? बस, उनके अन्तर्चक्षु खुल गये और उन्होंने उपाधि-रूप उस लंगोटी को खोलकर फेंक दिया और हर्षोन्मत्त होकर नाचने लगे।

सिपाहियों ने समझा, साधु महाराज कष्ट न सह सकने के कारण पागल हो गये हैं। अतः वे पहुंचे उनके पास और लगे तरह-तरह से समझाने-बुझाने। लेकिन साधुजी तो अपने-आप में मस्त हो गये थे, इसलिए कुछ बोले नहीं। मन मस्त हुआ तब क्यों बोले ? यह हाल था साधु महाराज का।

सिपाहियों ने जाकर राजा को खबर दी। वह यहां आये। सारा हाल देखकर राजाजी अवाक रह गये। लेकिन वह थे समझदार। ताड़ गये कि साधु को ज्ञान की फटकार लगी है। उन्होंने शाप से डरकर महाराज से बहुत-बहुत क्षमा-याचना की और उन्हें तुरन्त मुक्त कर दिया।

साधुजी अपनी झोंपड़ी में आये और गाय तथा बिल्ली आदि को छोड़कर पूरे-पूरे अन्तर्मुखी होकर पुनः भजन-स्मरण में लग गये और निर्द्वन्द्व विचरने लगे।

सच है, परिग्रह तो बंधनकर्ता होता ही है, छोटा हो या बड़ा। संग्रह-परिग्रह का ही दूसरा नाम 'नाग-पाश' है।

३ ब्राह्मण और शेरनी

एक शिकारी था। एक दिन बैठे-बैठे उसके मन में यह बात आई कि क्यों न कोई जुगत भिड़ाकर एक सिंह को जीवित पकड़ लिया जाय और पिंजरे में बन्द करके अपने घर में रखा जाय, जिससे उसे देखने के लिए आस-

पास के और दूर-दूर के लोगों की भीड़ अपने घर पर सदा बनी रहे। साथ ही, घर के बाल-बच्चों के लिए भी यह खासा कौतूहल और मनोरंजन का साधन हो जायगा।

कहने की आवश्यकता नहीं कि उन दिनों चिड़ियाखाने आदि की व्यवस्था नहीं हुई थी।

शिकारी ने युक्ति विचारी और उसके अनुसार खूब मोटी-मोटी लोहे की छड़ें चारों ओर लगाकर उसने एक बड़ा-सा पिंजरा बनवाया। उस पिंजरे का दरवाजा इतनी कारीगरी से बनवाया गया था कि उसमें घुसते ही प्राणी अपने-आप कैद हो जाय और पिंजरा बाहर से खोलें तभी खुले। पिंजरे में एक जीवित बैल बांधकर तथा उसका दरवाजा खुला छोड़कर उस पिंजरे को ऐसे स्थान पर रख दिया, जहां से होकर अक्सर शेर-शेरनियां पानी पीने के लिए झरने पर जाया करते थे।

शिकारी तो अपने घर चला आया और वह बैल मस्ती से हरी-हरी घास चरने लगा, जो पर्याप्त मात्रा में उसके सामने डाली हुई थी। उसे पता नहीं था कि मौत उसे किसी भी क्षण आ दबोचने वाली है।

थोड़ी रात बीती होगी कि झरने पर पानी पीने के लिए जाती हुई एक शेरनी उधर से निकली। शेरनी की नजर बैल पर पड़ी, तो उसके मुंह में पानी भर आया। वह दौड़कर पिंजरे में घुसी और उसने बैल पर झपट्टा मारा। बैल को तो वह आनन-फानन में चट कर गई, लेकिन पिंजरे का दरवाजा बन्द हो चुका था और अब शेरनी के निकलने का कोई रास्ता नहीं रहा था। वह पिंजरे में इधर-से-उधर और उधर-से-इधर दहाड़ मारती और सिर पटकती फिरने लगी। सारी रात बीत गई। शेरनी सिर पटकते-पटकते लहूलुहान हो गई, लेकिन दरवाजा नहीं खुला, नहीं खुला। वह थककर और निराश होकर बैठ गई कि इतने में सवेरा हुआ।

सवेरे एक ब्राह्मण उस रास्ते से गुजर रहा था। शेरनी ने गिड़गिड़ाते हुए उस ब्राह्मण से कहा, "हे ब्राह्मण देवता, अगर तू यह पिंजरा खोलकर मुझे बाहर निकाल दे, तो मैं तेरा अहसान जन्म-जन्मातर भी नहीं भूलूंगी।"

ब्राह्मण ने कहा, "तू है हिंसक जीव, जीवित प्राणी देखते ही तेरी तो जीभ लपलपाती है। मैं दरवाजा खोलूं और तू मुझे ही 'गटक' जाय, तो

तेरा क्या भरोसा !"

शेरनी ने कहा, "भोले ब्राह्मण, तुम भी कैसी नादानी की बात करते हो ! भला यह भी कोई सोचने की बात है ! तुम जो मेरा इतना उपकार करोगे, मेरे प्राणों की रक्षा करोगे, उसीको मैं खा जाऊंगी !"

ब्राह्मण को दया आ गई और वह दरवाजा खोलने वाला ही था कि उसे नीतिकार का कहा हुआ नीचे लिखा श्लोक याद आ गया :

नदीनां शस्त्रपाणीनां नखीनां शृंगिणां तथा ।
विश्वासो नैव कर्तव्यो स्त्रीषु राजकुलेषु च ।।

और वह ठिठक गया । उसने सोचा—अरे, तुम किसका विश्वास कर रहे हो ! विश्वास न करने योग्य जो पांच प्राणी तथा एक नदी का नाम नीतिकार ने गिनाये हैं, उनमें तीन का समावेश एक साथ ही है यहां तो । (१) शेरनी नखवाली है; (२) शेर जंगल का राजा होता है, अतः यह राजकुल की है; (३) शेरनी है याने मादा (स्त्री) है । ब्राह्मण खड़ा-का-खड़ा ही रह गया, क्योंकि न तो अपने दयालु स्वभाव के कारण उससे आगे बढ़ा जाता था और न डर के मारे उसकी हिम्मत पिंजरा खोलने की ही होती थी ।

शेरनी ने फिर कहा, "ब्राह्मण देवता, तू ज़रा भी मत डर ! बेधड़क पिंजरा खोल दे। एक पल के लिए भी यह मत सोच कि मैं तेरा अपकार या अहित करूंगी । तुझे वचन देती हूं, मेरे से बनेगा सो तेरा भला ही करूंगी । 'जो कोई वाचा चूके, बो ऊबो ऊबो सूके' वाली कहावत तेरी सुनी हुई होगी, नहीं तो मैंने तुझे सुना दी है । अपने दिये हुए वचन का मैं पालन करूंगी ।"

ब्राह्मण लिखा-पढ़ा तो था, लेकिन था भोला । अतः चिकनी-चुपड़ी बातों द्वारा शेरनी ने उसे विश्वास दिला दिया और उसने पिंजरा खोल दिया । पिंजरा खुलने की देर थी कि वह शेरनी तो अपने दिये और किए हुए सारे 'कौल'[१], 'वाचा'[२] भूलकर ब्राह्मण से बोली, "मैं तुझे खाऊंगी ?"

अब गिड़गिड़ाने की बारी ब्राह्मण की थी । वह बहुत रोया, खुशामद

१. इकरार   २. वचन

की, शेरनी को अपने द्वारा किये हुए उपकार की याद दिलाई, शेरनी द्वारा किये हुए वादों की याद दिलाई, लेकिन चिकने घड़े पर पानी का असर हो तो शेरनी के मन पर ब्राह्मण के वचनों का असर हो। आखिर ब्राह्मण ने कहा, "तू जिससे जंचे उस जीव से पंचायती करा ले। कोई भी कहे कि तुझे मुझको खाना चाहिए, तो जरूर खा लेना।"

शेरनी ने सोचा—इसमें अपना कोई हर्ज नहीं है, क्योंकि कोई भी जीव अपने खिलाफ फैसला देने का साहस नहीं कर सकेगा। शेरनी ने ब्राह्मण की यह बात मान ली और दोनों ने मिलकर एक लोमड़ी को पंच 'थरप'[1] लिया।

भाग्य की बात कि इतने में ही उधर से गुजरती हुई एक लोमड़ी दीख पड़ी। ब्राह्मण ने उसे पुकारा। लोमड़ी डरते-डरते वहां आई तो शेरनी और ब्राह्मण ने उसे सारी कथा सुनाई। लोमड़ी थी चतुर और साथ ही चालाक भी।

उसने भोली बनते हुए कहा, "देखो, यों तो मैं कुछ समझूंगी नहीं, क्योंकि यह बात मेरी बुद्धि में ही नहीं आती कि शेरनी-जैसा जीव भी कभी पिंजरे में बन्द हो सकता है! इसलिए पहले इसे अन्दर करके दिखाओ कि शेरनी कहां थी और ब्राह्मण कहां था! यह मैं देख लूं, फिर मैं जो पूछूं वह बताते जाओ। मैं अभी तुरन्त तुम्हारे इस झगड़े का फैसला किये देती हूं।"

दोनों ने बात मान ली। शेरनी पिंजरे में घुस गई और बोली, "मैं यहां थी।"

इतने में पिंजरे का दरवाजा आपसे-आप फिर बन्द हो गया।

लोमड़ी ने कहा, "यहां थी तो यहीं रह!" और ब्राह्मण से बोली, "तू अपने घर चला जा। न्याय हो चुका। इस शेरनी को पिंजरे में पड़ी-पड़ी भूखी-प्यासी मरने दे। भविष्य में अनहोनी बात पर कभी विश्वास मत करना। भला शेर-शेरनी-जैसा हिंसक जीव भी कभी विश्वास करने लायक होता है।"

शेरनी बहुत चिल्लाई, लोमड़ी को बहुत बुरा-भला कहा। बोली कि

१. तय कर लिया।

तुम दगाबाज हो, मुझे तुमने छल-कपट से फंसा दिया, इसका अच्छी तरह बदला लूंगी, पर लोमड़ी को अब क्या भय था ! वह तो ताली दे-देकर हँसने लगी और हँसती ही गई।

इतने में वह शिकारी वहां आ पहुंचा। उसे सारी बात का पता लगा, तो वह उस पिंजरे को अपने घर न ले जाकर वहीं छोड़ गया, जिससे उस रास्ते से होकर आने-जाने वाले लोग यह देख सकें कि कृतघ्न की क्या गति होती है।

कहा भी है :

सब पापन सिर मोर, निमकहरामी कृतघ्ने।
बाकी का अघ ओर, चेला चांटी 'चकरिया'।।

४ भक्त और भगवान

एक छोटे-से कस्बे में एक ब्राह्मण रहता था, जो बहुत संतोषी था। वह सध्या-वंदन और पूजा-पाठ नियमित रूप से करता, भगवान का नाम जपा करता और अपने आप जो कुछ प्राप्त हो जाता, उसमें संतोष मानकर अपना निर्वाह किया करता। कभी किसीसे कुछ याचना नहीं करता था।

उसके पास शालिग्रामजी की एक मूर्ति थी। उसे भोग लगाकर ही वह स्वयं भोजन किया करता। ब्राह्मण को अपने-आप इतना-सा ही प्राप्त होता था कि वह रूखी-सूखी रोटी खाले। घी-दूध के उसने कभी दर्शन नहीं किये थे और न इसके लिए उसने कभी चाह ही की थी।

ऐसा करते-करते कईवर्ष बीत गये। तब एक दिन शालिग्रामजी ने उसे स्वप्न में दर्शन दिये और कहा, "ब्राह्मण, तुम्हारी भक्ति देखकर तो मैं बहुत प्रसन्न हूं, लेकिन नित्य रूखी-सूखी रोटी खाते-खाते मेरे पेट में दर्द होने लगा है। अतः कल तुम मुझे चुपड़ी रोटी देना !"

ब्राह्मण की आंख खुली तो उसने सोचा कि मैंने आजतक तो अपनी

जिन्दगी में किसी से याचना की नहीं। अब घी लाऊं तो कहां से लाऊं? आखिर उसने सोचा कि जब महाराजजी ने अपने-आप ही मुंह खोलकर कह दिया है तो चलो, एक दिन उसकी बात रखने को अपना व्रत टूटा ही सही। सामने वाले सेठ की हवेली से थोड़ा-सा घी मांग कर ले आऊंगा और आज-आज चुपड़ी रोटी का भोग लगा दूंगा।

उस ब्राह्मण ने कभी किसी भी चीज के लिए याचना नहीं की थी, इसलिए जब वह घी मांगने गया तो हवेली की मालकिन ने बहुत आदर के साथ उसे घी दिया और अपने को धन्य माना। ब्राह्मण ने चुपड़ी रोटी का भोग लगाया और संतोष माना।

रात को फिर शलिग्रामजी दीख पड़े और बोले, "ब्राह्मण, तेरी चुपड़ी रोटी से मैं प्रसन्न हूं, लेकिन कल भोग के समय मुझे रोटी के साथ थोड़ा ज्यादा-सा ताजा-ताजा मक्खन अलग से भी दे तो मैं अधिक प्रसन्न होऊं।"

ब्राह्मण हँसा और बोला, "महाराज, द्वापर युग को बीते आज पांच हजार वर्ष हो चुके हैं। कहते हैं, उन दिनों नन्द बाबा के यहां नौ लाख गाएं थीं, तो भी दूध-मक्खन से आपकी तृप्ति नहीं होती थी। अपने ही घर में यशोदा मैया से लुक-छिपकर, चुराकर आप मक्खन खाया करते थे और इसीलिए आपका नाम 'माखनचोर' पड़ गया था। इसके अलावा आप अहीर की 'छोहरियों' से चिरौरी कर-करके भी मक्खन मांगा करते थे, और वे छोहरियां आपको मनचाहा नाच नचाया करती थीं। बहुत दफे आप लूट-खसोट कर भी मक्खन खा जाया करते थे, जिसके फलस्वरूप आएदिन यशोदा मैया को ग्वालिनों से उलाहना सुनना पड़ता था। यशोदा मैया ने तंग आकर आपको एक बार ऊखल से भी बांध दिया था, लेकिन मालूम होता है कि इतना सब होने पर भी और इतने वर्षोंबाद भी आपकी मक्खन खाने की वह निगोड़ी आदत गई नहीं। जो हो, मैं आपसे साफ कहे देता हूं कि अगर आपको दूध-दही और घी-मक्खन के गटके[१] आते हों, तो सामने सेठ की यह बड़ी-सी हवेली खड़ी है, वहां चले जाइये।

१. खाने की तीव्र इच्छा।

रूखी-सूखी रोटी से संतोष होता हो, तो मेरी कुटिया तैयार है। मुझसे रोज़-रोज़ आपके लिए मांगकर लाने का यह धंधा पार नहीं पड़ेगा।"

शालिग्रामजी ने ब्राह्मण के सिर पर हाथ रखा और कहा, "तुम्हारी रूखी-सूखी रोटी में जितना स्वाद है, वह दूसरे के घी-दूध में कहां! तुम्हारी रोटी तो मेरे लिए शवरी के वेर और सुदामा के तन्दुल के वरावर है। तुम निश्चिंत रहो! मैं न तो तुम्हारा घर छोड़कर जानेवाला हूं और न तुम्हारा हृदय। मैं तो तुम्हारे प्रेम से ऐसा वंध गया हूं कि चाहूं तो भी न जा सकूं। 'दुर्योधन के मेवा त्यागे, साग विदुर घर खायोजी।' विदुर की पत्नी द्वारा दिये गए केले के छिलकों के सामने विदुरजी के दिये हुए केले मुझे फीके लगे थे और मैंने विदुर से कहा था, 'वह स्वाद नहीं आवणां'।"

रहीम ने भी कहा है :

> रहिमन रहिला[1] की भली, जो परसै[2] चित लाय।
> परसत मन मैला करै, सो मैदा जरि जाय॥

राजस्थानी में भी एक कहावत है — 'खांणू प्रेम को होवो भलांई जहर हो।"

५ बात का घाव

एक ब्राह्मण था। वह वहुत ही गरीब था। जंगल से लकड़ी काटकर लाता और उसे शहर में वेचकर अपनी गुजर-बसर किया करता। ज्यों-ज्यों ब्राह्मण की उमर बड़ी होती गई, उसकी शारीरिक शक्ति भी क्षीण होती गई। फलस्वरूप उसका लकड़ियों का गट्ठा पहले से थोड़ा छोटा होता गया। अत: ब्राह्मण को पेट-भराई जितना भी पैसा नहीं मिलता था। एक दिन वह जंगल में गया और लकड़ी काटकर लाने लगा तो उससे लकड़ियों का गट्ठा उठा नहीं, क्योंकि वह बहुत दुर्वल हो गया था। इसलिए वह वहीं

१ चना। २. परोसे :

वैठ गया और निराश होकर बोला कि इस जीवन से तो मौत ही अच्छी !

संयोग की बात कि इतने में ही उसे एक सिंह दिखाई दिया। सिंह को देखते ही ब्राह्मण के तो होश उड़ गये। वह थर-थर काँपने लगा। आदमी यों कहने को तो कह देता है कि ऐसे जीने से तो मरना ही अच्छा, लेकिन जब सचमुच ही मरण-घड़ी आती है तो वह बहुत छटपटाता है। मरना कोई नहीं चाहता। आदमी हर हालत में जिन्दा ही रहना चाहता है। ब्राह्मण का भी वही हाल हुआ, लेकिन उसने अपने मन में सोचा कि मौत मांगी थी और मौत आ ही गई, तो अब डरने से भी क्या होगा, युक्ति से काम लेना चाहिए। ऐसा सोचकर उसने दोनों हाथ ऊंचे करके कहा, "जजमान की जय हो !"

सिंह ने पूछा, "क्यों, क्या बात है ? कौन हो तुम ?"

ब्राह्मण ने कहा, "मैं तुम्हारा घरू जोशी हूं और तुम हो मेरे जजमान। तुम्हें आशीर्वाद देने आया हूं और साथ ही दान-दक्षिणा लेने।"

सिंह ने कहा, "दान-दक्षिणा देने को मेरे पास और तो कुछ है नहीं, लेकिन मैं इतना कर सकता हूं कि तुम अपनी लकड़ियों का गट्ठा मेरी पीठ पर लादकर शहर तक ले जा सकते हो।"

ब्राह्मण को इससे अधिक क्या चाहिए था ! उसने तो दूसरे ही दिन से दुगनी-तिगुनी लकड़ियां इकट्ठी करनी शुरू कर दीं और उनको सिंह की पीठ पर लादकर शहर ले जाने लगा। लकड़ियां ज्यादा लाने के कारण ब्राह्मण को पैसे भी ज्यादा मिलने लगे। दोनों वक्त खाने के लिए उसे पूरा और अच्छा भोजन मिलने लगा।

कई दिन बीत गए। ब्राह्मण को इस बात का भान भी नहीं रहा कि यह सिंह है। उसने तो सिंह को एक साधारण जीव ही मान लिया था और एक दिन ब्राह्मण ने सिंह को गाली देते हुए कहा, "इतने धीरे-धीरे क्या चल रहे हो, जल्दी क्यों नहीं चलते ?"

सिंह चुपचाप वहीं खड़ा रह गया और बोला, "हे ब्राह्मण देवता, तुम्हारे हाथ में यह कुल्हाड़ी है। मेरी गरदन पर कसकर इसकी एक चोट मारो।"

ब्राह्मण ने कहा, "क्यों ? क्या बात है ?"

सिंह बोला, "बात कुछ नहीं, तुम वैसा करो, जैसा मैं कहता हूं।"

ब्राह्मण ने सिंह की गरदन पर कुल्हाड़ी मारी और सिंह की गरदन पर एक बड़ा-सा घाव हो गया। कुछ दिन बीत गये तो सिंह ने पूछा, "ब्राह्मण, तुमने जहां मेरे कुल्हाड़ी मारी थी, वहां पर देखो, कोई घाव है क्या ?"

ब्राह्मण ने देखकर कहा, "घाव तो भर गया।"

तब सिंह ने कहा, "कुल्हाड़ी का घाव तो भर गया, लेकिन तुमने मुझे जो गाली दी थी, वह घाव नहीं भरा है।"

सच ही है, "तरवार का घाव भरज्या, बात को घाव कोनी भरै।"

"न प्ररोहति वाक्-क्षतः।"

सिंह ने फिर कहा, "देखो, आजतक मैंने तुम्हारी काफी सेवा कर दी है और ऐसा करके तुम्हारी चाही हुई दक्षिणा तुम्हें चुका दी है। अब आगे मुझसे किसी तरह की आशा मत रखना। लेकिन जाते-जाते तुम्हें एक नसीहत देता हूं कि कभी किसी को दुर्वचन मत कहना। मेरी यह नसीहत पल्ले बांधकर रखोगे, तो सुख पाओगे।"

ऐसा कहकर सिंह बोला, "जा घर विप्पर[1] आपणें, सिंह किसका जजमान !"

६ 'सदा न रहै'

एक सेठ था। वह धनी तो था ही, तबियत वाला भी बहुत था। शहर में कोई भी चीज बिकने आये, वह दिन-भर में बिके सो बिके और जो न बिके, उसे शाम को सेठ खरीद लेता था।

एक दिन एक आदमी बाजार में कागज का टुकड़ा हाथ में लिये हुए उसे बेचने को घूम रहा था। कागज़ के टुकड़े पर लिखा था—"सदा न रहै !"

१. विप्र (ब्राह्मण)

वह आदमी उस कागज के टुकड़े को लिये हुए वाजार में आदमी-आदमी को दिखाता फिरे, लेकिन ज़रा-से कागज के टुकड़े को खरीदे कौन ? आखिर शाम हो गई, तब वह आदमी उस सेठ के घर पहुंचा। सेठ ने वह कागज अपने हाथ में ले लिया और उस आदमी को वताई हुई कीमत चुकाकर उस कागज के टुकड़े को खरीद कर अपनी पगड़ी के पल्ले में वांध लिया।

राग-द्वेष वाले लोग हर जगह रहते ही हैं। अतः किसीने जाकर राजा से चुगली कर दी कि महाराज, आपसे भी बड़ा बनकर कोई आदमी इस नगरी में रहे, यह आपके लिए शोभा की बात नहीं। राजा नादान बुद्धि का था। इसलिए कोई-न-कोई झूठा अपराध लगाकर तुरन्त सेठ को पकड़वाकर जेल में डाल दिया।

सेठ वेचारा क्या करता ! "राज को सिर पर कर गेलो"[१], "पासो पड़े सो दाव, राजा करे सो न्याव।"[२]

सेठ जेल में पड़ा-पड़ा अपने दुःख के दिन विताया करता। एक दिन वह सिर पर पगड़ी उतारकर उसके पेंच का वल निकालने लगा, तो उसे एक गांठ दिखाई दी। उस गांठ को खोला तो वह कागज का टुकड़ा निकला, जिसको किसी दिन सेठ ने मुंहमांगी कीमत देकर खरीदा था; और जव सेठ ने यह पढ़ा कि 'सदा न रहै', तो उसको विश्वास हो गया कि अगर अपने सुख के दिन सदा नहीं रहे, तो ये दुर्दिन भी सदा रहने वाले नहीं हैं। उसके मन में आशा का संचार हुआ।

सेठ ने कागज के टुकड़े को माथे से लगाकर फिर से पगड़ी के पल्ले में बांध लिया और भगवान को धन्यवाद दिया। सेठ अपने दुःख की बात भूल गया और उसे हँसी आ गई। वह खूव हँसा। पहरेदारों ने सोचा कि सेठ दुःख न सह सकने के कारण विक्षिप्त हो गया है, और उन्होंने जाकर राजा को खवर दे दी।

राजा वहां आया और सेठ से हँसने का कारण पूछा। जब सेठ ने

१. राज का रास्ता सिर ऊपर होकर।
२. (चौसर के खेल में) जैसा पासा पड़े वह दांव और राजा करे वही न्याय।

सारी कथा कही तो राजा भी नादान से सयाना हो गया। उसको अपनी भूल दिखाई दी। सेठ से बार-बार माफी मांगकर उसे तत्काल छोड़ दिया।

सेठ अपनी हवेली में आकर पूर्ववत् रहने लगा।

सुख में इतराइये नहीं, दुःख में घबराइये नहीं। सुख-दुःख तो दिन और रात की तरह हैं; आते हैं और जाते हैं!

७ बांदी द्वारा बोध

रामनगर के राजा भीमसिंह की कन्या पद्मावती जितनी रूपवती थी उतनी ही ऐयाश और शौकीन-तबियत भी थी। स्वभाव की उदार होने के कारण वह दास-दासियों को बख्शीश बहुत दिया करती थी, इसलिए नौकर-नौकरानी जानते हुए भी उसके दुर्गुणों के बारे में मुंह नहीं खोलते थे। माता-पिता की इकलौती सन्तान होने के कारण पद्मावती बहुत ही लाड़-प्यार में पली थी। "पलँग पीठ तजि गोद हिंडोरा, सिय न दीन्ह पग अवनि कठोरा" की उक्ति उसपर लागू होती थी। पद्मावती केस्वभाव में तीखापन बहुत था। राजस्थानी में एक कहावत है 'घणूं लड़ायेडो टाबर ईतरै।'[1] यही हाल था पद्मावती का।

होते-करते पद्मावती युवावस्था में पहुंची। 'जवानी दीवानी' के अनुसार एक दिन मंत्री के लड़के से उसकी आंख लड़ गई और वे दोनों ही अपना-अपना दिल एक-दूसरे को दे बैठे। मंत्री का लड़का इतना सुन्दर था कि 'देख्यां निजर लागे, हाथ लगायां गात मैलो हो।'[2]

पाप-कर्म करने और उसे छिपाने के लिए पद्मावती ने एक युक्ति

१. ज्यादा लाड़ किया हुआ बच्चा सिर चढ़ता है।
२. देखने से नजर लगे और हाथ लगाने से शरीर मैला हो।

रची। उसने दीवान के बेटे को अपना 'धर्म-भाई' बना लिया और इस नाते जनानी ड्योढ़ियों में उसका आना-जाना अबाध रूप से हो गया। लोक-दिखावे के लिए श्रावणी के दिन राखी का नेग होता, भैया-दूज के दिन उसे भोजन पर बुलाकर जिमाती, लेकिन लुके-छिपे एकान्त में सब-कुछ चला करता। तुलसीदासजी ने कलियुग का वर्णन करते हुए कहा है - 'गिने न कोई अनुजा तनुजा।' यही हाल था इन दोनों का।

दिन बीतते गये, लेकिन आखिर पाप का घड़ा तो फूटना ही था। राजा-रानी को सारी बात का पता लग गया। लेकिन उन्हें पता तब लगा, जब बाजी हाथ से निकल चुकी थी। कोई मार्ग नहीं रह गया था। राजा-रानी बहुत दु:खी हो गये और उन्होंने यह निश्चय किया कि कुछ दिनों के लिए तीर्थाटन पर चले जाना चाहिए। वहां पर भगवान से प्रार्थना करेंगे तो शायद कुछ सुनाई हो जाय और शर्म से बच सकें।

ऐसा सोचकर राजा-रानी दोनों जने महीने-भर की यात्रा पर निकल पड़े। अपनी लाड़ली रास्ते पर आ जाय, इसके लिए नित्य प्रातः-सायं प्रार्थना करने लगे और भांति-भांति की मनौती मनाने लगे।

इधर रामनगर में लाडोराणी पद्मावती को जब एकान्त मिल गया तो वह आए-दिन अपनी विश्वस्त कुटनी को भेजकर मंत्री के लड़के को रात के वक्त बुलाने लगी।

एक दिन सायंकाल जब पद्मावती पूरी मदमस्ती में थी, तब एक तरफ तो उसने अपनी मुनिया नाम की बांदी को यह कहकर अपने शयन-कक्ष में भेज दिया कि जाओ और उस कमरे को अच्छे-से-अच्छा सुसज्जित करो। सारे फर्श पर कालीनें बिछा दो, पलंग पर नरम-से-नरम खूब मोटा गद्दा डाल दो और दुग्धफेनवत् श्वेत चादर उसके ऊपर बिछा दो। चारों ओर फूल-मालाएं और गजरे लगाकर बढ़िया-से-बढ़िया इत्र का छिड़काव कर दो तथा भांति-भांति की शराब की बोतलें और प्यालियां वहां पर सजा दो। और दूसरी एक कुटनी को भेजकर मंत्री-पुत्र को कहला दिया कि आधी रात के वक्त वह पद्मावती के महलों में आ जाय।

मुनिया शयन-कक्ष में गई और राजकुमारी ने जैसा बताया था, उससे भी द्विगुणित मात्रा में उसे सजा दिया।

सुसज्जित कर चुकने के वाद मुनिया के मन में यह कौतूहल हुआ कि इतना नरम यह विछौना है, इस पर सोने में कैसा आनन्द आता होगा! चूंकि राजकुमारी के आने में अभी देर थी, अतः कौतूहलवश वह बांदी विस्तर पर ज़रा-सा लेट गई। भाग्य की वात, उसे तो लेटते ही नींद आ गई और ऐसी गहरी नींद आई कि समय की सुध ही न रही।

रात हो गई और पद्मावती अंगड़ाई लेती हुई अपने शयन-कक्ष में आई। अपने विछौने पर वांदी को सोई हुई देखकर उसके तन-वदन में आग लग गई, नथुने फड़कने लगे। मुंह में झाग आ गये और कड़ककर वोली, "कम्वख्त, वांदी की जात होकर तेरी यह मजाल! तेरी यह जुर्रत!" ऐसा कहकर वह पास ही टंगे चावुक को उतारकर तुरंत ही मुनिया पर पिल पड़ी।

मुनिया हड़वड़ाकर उठी। एक वार तो वह हक्की-वक्की रह गई, घबरा गई; लेकिन दूसरे ही क्षण में उसे, पता नहीं, क्या सूझा कि वह तो चावुकों की मार के वीच ही खिलखिलाकर हँसी और ऐसी हँसी कि हँसती ही चली गई।

पद्मावती ठिठक गई, उसका हाथ चावुक-समेत उठा-का-उठा ही रह गया। उसे लगा, जैसे कोई प्रेत हँस रहा हो। वह डर गई, भयभीत हो गई। भय के मारे उसका सारा शरीर पीला पड़ गया। वह थर-थर काँपने लगी। फिर किसी तरह हिम्मत वटोरकर वोली, "मुनिया, तुझे हो क्या गया है? चावुकों की मार से तेरा शरीर लहूलुहान हो गया है, और तू है कि इस तरह हँसे जा रही है!"

मुनिया वोली, "मालकिन, मेरा कसूर माफ हो, लेकिन वात यह है कि मैं जो थोड़ी-सी देर, और वह भी केवल कौतूहलवश, इस विस्तर पर लेट गई, तो मुझे यह दण्ड मिला; किंतु मुझे हैरानी इस वात की है कि मेरी सुकुमार मालकिन को, जो प्रतिदिन ही इस विस्तरे पर सोती हैं, कैसा दण्ड मिलेगा!"

मुनिया का इतना कहना था कि पद्मावती सुन्न हो गई। चावुक उसके हाथ से गिर पड़ा और धम्म-से जमीन पर वैठ गई। वैठ क्या गई, गिर गई।

कुछ देर में संभली तो मुनिया को खींचकर अपनी छाती से लगा लिया, उसके घावों पर अपने हाथों से मरहम-पट्टी की, उसे पुचकारा, दुलारा, गरम-गरम दूध अपने हाथों से पिलाया और फिर वह रोने लगी। रोते-रोते उसकी हिचकियां बंध गईं और वह बेहाल हो गई। पीछे की उसकी सारी करतूतें, सारे पाप, मूर्त-रूप होकर उसकी आंखों के सामने से एक-एक करके गुजरने लगे और वह बहुत ही घबरा गई। अन्त में किसी तरह अपने पर काबू पाकर मुनिया से बहुत-बहुत क्षमा-याचना की। आँसुओं से अपने सारे पुराने पापों को धोया और उसी दिनसे सारी ऐयाशी छोड़कर सादा, सेवामय जीवन बिताने लगी, पराये दुःख को अपना दुःख मानने लगी और जरूरत में सबकी यथासाध्य सहायता करने लगी— तन से, धन से और मन से।

राजकुमारी में यह आकस्मिक परिवर्तन देखकर सबको आश्चर्य हुआ, लेकिन किसीको भी यह पता नहीं था कि इतना चमत्कारी अंतर हो कैसे गया!

राजा और रानी तीर्थाटन से लौटे तो उन्हें अपनी कन्या में यह अनपेक्षित लेकिन मनोनुकूल परिवर्तन देखकर बहुत ही सुख हुआ और यह सोचते हुए कि यह अपने तीर्थाटन का पुण्य फल है, उन्होंने अपने भाग्य को और तीर्थाटन की महिमा को सराहा। सही स्थिति का, सच्ची बात का, किसी को भी पता नहीं था। अगर था तो स्वयं पद्मावती को या मालूम है मुनिया को या इस कहानी के पाठकों को।

८ ▯ लोभ का परिणाम

एक बनिया था। वह बहुत लोभी था और अव्वल नम्बर का कंजूस भी। जिस गांव में वह रहता था, वह छोटा होने के कारण कोई खास व्यापार-बट्टा तो वहां था नहीं, लेकिन उसके दो लड़के सुदूर बर्मा देश में

रहते थे और खासा-अच्छा रोजगार था उन लड़कों के पास।

वे लड़के कंजूसी में तो वाप की होड़ नहीं कर सकते थे, लेकिन फिर भी कुछ-कुछ गुण तो वाप के ग्रहण किये ही थे। अतः अपने तन पर कम-से-कम खर्च करके सारी कमाई वाप के पास भेज देते थे। वाप के पास कमाई का और कोई धंधा नहीं था, लेकिन लड़कों के भेजे हुए रुपये आते तो उनसे 'वोरगत'[1] का काम करता। आस-पास के गांवों में और कोई पैसे देनेवाला न होने के कारण, व्याज की दर ऊंची होने पर भी, जरूरतमंदों को इसी वनिये के पास आना पड़ता था।

इसी गांव में एक गरीव ब्राह्मण रहता था। वह मामूली कथा-वार्ता करके तथा लोगों के यहां मरे-जीये के, व्याह-शादी तथा अन्य नेगों में होने वाली पूजा-पाठ इत्यादि कराके पेट-पालन किया करता था।

भाग्य की वात कि ब्राह्मण की पत्नी अचानक वीमार हो गई और कुछ दिनों की वीमारी भोगकर चल वसी। वह मरते समय अपने पीछे एक कन्या छोड़ गई। अव उस ब्राह्मण को अपनी कन्या की देख-रेख में अधिक समय लगाना पड़ता था, इसलिए पूजा-पाठ का काम कम कर पाता था। गरीव तो था ही, और गरीव हो गया। शरीर की शक्ति क्षीण हो गई। नेत्रों की ज्योति कम हो गई, अतः कथा-वार्ता में और रुकावट आने लगी। नौवत यहाँ तक पहुंची कि कथा-वार्ता से उसकी पेट-भराई नहीं होती थी। अतः वाध्य होकर उसे भिक्षा मांगने-जैसा घृणित धंधा शुरू करना पड़ा। वह ब्राह्मण सारे दिन गांव में बैठा भीख मांगता और जो कुछ दिन-भर में मिलता, उसे लेकर सायंकाल अपनी झोंपड़ी में आ जाता। संतोषी स्वभाव का होने के कारण जैसा भी रूखा-सूखा मिलता, स्वयं भी खा लेता और वेटी को भी खिला देता। लेकिन गांव छोटा था और ज्यादा घर साधारण गृहस्थों के ही थे, अतः पूरी पेट-भराई नहीं होती थी।

ब्राह्मण ने सोचा, गांव के वाहर जो गणेशजी का मन्दिर है, वहां जा-कर बैठना चाहिए, क्योंकि उस मन्दिर में अपने गांव के तो सारे लोग जाते ही हैं, कुछ दूसरे लोग आसपास के गांवों के भी आते हैं। वहां मन्दिर की

१. रुपये उधार देने का धंधा।

सीढ़ियों पर वैठे रहने से शायद पेट भरने लायक आमदनी हो जायगी।

दूसरे दिन से ब्राह्मण अपनी वेटी की सहायता से वहां जाकर वैठने लगा और 'ॐ नमः शिवाय' मंत्र का जोर-जोर से जाप करने लगा।

संयोग की वात कि कुछ ही दिनों वाद शिव-पार्वती पर्यटन करते हुए उस मन्दिर के सामने से गुजरे। पार्वती ने खीझकर शिव से कहा, "तुम कितने निष्ठुर हो कि इस दीन-दुर्वल ब्राह्मण को कुछ भी नहीं देते, जवकि यह दिन-भर तुम्हारा नाम रटता रहता है! भले आशुतोष कहलाये!"

शिव ने कहा, "मन्दिर में चलो!"

मन्दिर में गये तो गणेशजी अपने मां-वाप की अभ्यर्थना के लिए खड़े हुए और उन्हें अर्घ्य दिया। उस समय वह वनिया उस मन्दिर के पास से गुजर रहा था। उसने मूर्ति को खड़े होते और वात करते देखा तो आश्चर्यान्वित हुआ और सोचा कि आज गणेशजी महाराज स्वयं किससे वातें कर रहे हैं और क्या वातें कर रहे हैं!

ऐसा सोचकर वह मन्दिर के वाहर ही कान लगाकर सुनने लगा।

शिवजी महाराज गणेशजी को उपालम्भ दे रहे थे, "यह दीन-दरिद्री ब्राह्मण, जोकि सात्विक वृत्ति वाला और संतोषी स्वभाव का है, किने दितनों से तुम्हारे द्वार पर पड़ा है और मेरा नाम जप रहा है। फिर भी तुम कुछ देकर उसका दुःख दूर नहीं करते, यह कैसी वात है?"

गणेशजी ने भूतकाल की गलतियों के लिए क्षमा-याचना की और कहा, "एक सप्ताह के भीतर यहां वैठे-वैठे इसे एक लाख रुपये मिल जायंगे, आप निश्चिंत रहें!"

पार्वतीजी अपने पुत्र के दिए हुए आश्वासन से संतुष्ट हो गईं। शिव-पार्वती ने गणेशजी को आशीर्वाद दिया और मन्दिर के वाहर निकल आये।

वह सूम वनिया सारी वात सुन चुका था। अतः शिव को दिखाई न पड़े, इस तरह तेजी से कदम वढ़ाता हुआ आगे निकल गया।

उस वनिये के मन में यह क्रिया चली कि इस भिखारी को एक लाख रुपये मिलेंगे तो अवश्य, क्योंकि गणेशजी के दिये हुए वचन अन्यथा नहीं हो सकते; अव सोचना यह है कि ये रुपये अपन किस तरह हथिया सकते हैं?

तुलसीदासजी के वचनों में 'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई' और

महावीर स्वामी के वचनों में 'जहा लाहो तथा लोहो' के अनुसार भिखारी के रुपयों में से भी हिस्सा या करीब-करीब सारे ही रुपये हड़प लेने की तरकीब वह सोचने लगा और अनेक संकल्प-विकल्प उसके दिमाग में आये और गये। आखिर उसने एक तरकीब सोच ही ली और भागा-भागा उस ब्राह्मण के पास आया। आते ही उसने ब्राह्मण को दण्डवत् प्रणाम किया और सायंकाल का भोजन अपने घर पर करने का निमन्त्रण दिया।

ब्राह्मण तो निहाल हो गया, क्योंकि इधर बहुत दिनों से उसे अच्छा भोजन नहीं मिला था। ब्राह्मण ने पूछा, "मैं अपनी बेटी को भी साथ ला सकता हूं क्या ?"

बनिये ने कहा, "महाराज, आपकी कृपा है, अवश्य लाइये !" और लगा भांति-भांति से खुशामद और निहोरा करने। फिर बनिया तो अपने घर चला गया और भिक्षा में जो कुछ मिला था, उसे समेटकर ब्राह्मण देवता भी अपने घर आ गये। आते ही उन्होंने सारी बात अपनी बेटी को बताई।

बेटी ने कहा, "आपने हां भरी है तो अवश्य चलूंगी; लेकिन यह आदमी, जिसकी आप बात करते हैं, इतना सूम है कि बिना किसी स्वार्थ के इस तरह चिकनी-चुपड़ी बातें करे और आदरपूर्वक भोजन पर बुलाये, यह अनहोनी-सी बात है। इसमें अवश्य कुछ-न-कुछ रहस्य है।"

लड़की चतुर और बुद्धिमती थी। उसने कहा, "पिताजी! वह बनिया जब कुछ भी कहे या पूछे तो उसका उत्तर मुझे देने दीजियेगा, आप बीच में बोलियेगा नहीं।"

बाप-बेटी के बीच यह तय हो गया और दोनों पहुंचे उस बनिये के घर। बनिये ने बहुत सत्कार किया और बहुत अच्छा भोजन कराया। भोजन के बाद बनिये ने कहा, "पंडितजी, मैं आपसे एक सौदा करना चाहता हूं और वह यह कि आपको सात दिन तक भिक्षा में जो कुछ मिले, अथवा और किसी तरह आपको जो कुछ प्राप्त हो, वह सब मुझे दे दीजिये और बदले में मैं आपको एक हजार रुपये दे देता हूं।"

एक हजार रुपये का नाम सुनकर ब्राह्मण देवता के मुंह में पानी भर आया; लेकिन चूंकि वह अपनी बेटी के साथ वचनबद्ध था, अतः कुछ

बोला नहीं। लड़की ने तुरन्त ताड़ लिया कि अपने को तो शाम तक मुश्किल से एक-दो आना और थोड़ा-बहुत अनाज मिलता है, इतने-से के बदले हजार रुपये कौन देगा ? अवश्य कोई-न-कोई विशेष कारण है। अतः वह 'नट' गई और बोली, "सेठजी, आप भी कैसी बातें करते हैं! हजार रुपये में कोई आदमी अपना भाग्य बेचा करता है क्या ? माना कि आज मेरा पिता मुश्किल से पेट-भराई जितनी भीख प्राप्त करता है, लेकिन पुरुष के भाग्य का क्या ठिकाना कि कब उदय हो जाय! इसके लिए कहा गया है 'पुरुषस्य भाग्यं दैवो न जानाति', तो हम अपना भाग्य कैसे बेच दें?"

सेठ तो हजार से दो हजार, दो हजार से चार हजार, और इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते पचास हजार तक पहुंचा। सेठ ने सोचा कि पचास हजार दे देते हैं तो भी पचास हजार की कमाई तो हो ही जायगी।

लड़की ने सोचा, "घणी खींच्या टूटे"[1], अतः अब अपने को मान जाना चाहिए। सौदा तय हो गया और बनिये ने पचास हजार रुपये नकद गिन दिये। आपस में यह तय हो गया कि वह ब्राह्मण आजतक जितनी तन्मयता से और जिस तरह मन्दिर की सीढ़ियों पर बैठकर भीख मांगता था, उसे उसी तरह कम-से-कम सात दिन तक और करना होगा।

अब तो बनिया रोज जाने लगा उस मन्दिर के पास, यह देखने के लिए कि उस ब्राह्मण को आज क्या प्राप्त होता है। लेकिन ब्राह्मण को तो वही एक-दो आने के पैसे तथा एक-दो मुट्ठी अनाज मिलता था।

एक-एक करते पूरे छह दिन बीत गये। बनिये ने सोचा, बात क्या है ? शिव और गणेश में जो बातें हुई हैं वे अन्यथा तो हो नहीं सकतीं। उसके अनुसार ब्राह्मण को एक लाख रुपये अवश्य मिलने चाहिए, क्योंकि अगर शिव-पार्वती के सामने की हुई गणेशजी की प्रतिज्ञा झूठी सिद्ध हो जाय, तो प्रलय ही हो जाय!

सातवें दिन वह स्नान-आदि करके तिलक-छापा लगाकर माला जपता हुआ और यह सोचता हुआ कि आज रुपये अवश्य मिलेंगे, मन्दिर की सीढ़ियों पर उस ब्राह्मण के पास पहुंचा। देखता क्या है कि फिर गणेशजी

१. ज्यादा खींचने से टूट जाती है।

महाराज शिव-पार्वती से बातें कर रहे हैं।

बनिया छिपकर पीछे की तरफ खड़ा हो गया और दीवार से कान लगाकर सुनने लगा कि देखें, आज फिर क्या बात होती है!

सर्वप्रथम शिवजी के शब्द उसके कानों में पड़े, "क्यों गणेश, क्या हुआ ? यह ब्राह्मण तो उसी तरह भीख मांगता है। मालूम होता है, तुमने इसे कुछ दिया-दिलाया नहीं !"

गणेशजी ने कहा, "पिताजी, पचास हजार रुपये तो इसे एक बनिये से दिला दिये हैं और दूसरे पचास हजार भी आज ही और अभी दिला देता हूं।"

बनिये ने सोचा, यह क्या बात है और वह दीवार से अपना कान हटाने लगा। लेकिन जब उसने यह देखा कि कान तो दीवार के साथ बुरी तरह चिपक गया है और छूट नहीं रहा है, तो उसके आश्चर्य और दुःख का ठिकाना न रहा। उसने अपने हाथ का जोर लगाना चाहा तो हाथ भी चिपक गये। अब तो बनिया बहुत ही परेशान हो गया, घबरा गया।

इतने में उसके कान में आवाज सुनाई दी, "सुन बनिया, कान और हाथ छुड़ाने का तेरा प्रयत्न व्यर्थ होगा, जबतक कि तू सीढ़ियों पर बैठे हुए उस ब्राह्मण को दूसरे पचास हजार रुपये नहीं गिन देता।"

बनिये को काटो तो खून नहीं। लेकिन बेचारा करता क्या ? अपने घर से दूसरे पचास हजार रुपये मंगाकर चुपचाप ब्राह्मण को दिये, तब जाकर वह मुक्त हुआ।

बनिया गया था ठगने, ठगा गया खुद। उसे आज पता लगा कि नीचे लिखी कहावतें कितनी सच हैं: 'लालच बुरी बलाय', 'लालच गलो कटावे', 'पाप को बाप लोभ', 'घणूं लोभ लै डूबे' आदि।

इधर ब्राह्मण देवता के पास जब एक लाख रुपये हो गये, तो उसने भिक्षावृत्ति छोड़ दी और सुखपूर्वक रहने लगा। उसने फिर से हलका-हलका कथा-वार्ता का क्रम आरम्भ कर दिया, लेकिन अब वह कथा आदि अपने घर पर ही करता था, किसी दूसरे के घर पर जाकर नहीं, क्योंकि अब वह दान-दक्षिणा के लिए ऐसा नहीं करता था, जितना-सा बन पड़ता था, स्वान्तःसुखाय ही करता था।

अच्छे सात्त्विक विचारों का कुटुम्व और सुपात्र देखकर उसने लड़की के हाथ पीले कर दिये। लड़की ससुराल जाकर अपनी सुघड़ता और अच्छे विचारों के कारण पति के साथ-साथ सास-ससुर की भी वहुत स्नेहभाजन हुई और वहां सुखपूर्वक रहने लगी।

कहते हैं, इससे मिलती-जुलती एक कथा श्रीमद्भागवत में भी है।

८ कर्म-फल

एक जटाधारी साधु था जो सारे शरीर पर 'भभूत' रमाये रहता और माथे पर लम्वे और मोटे तिलक किये हुए, मोटे-मोटे मनकों की माला फेरता रहता। वीच-वीच में जटा में से एक डिविया निकालकर उसमें रखी हुई शालिग्रामजी की मूर्ति वाहर करता और 'धूणी' के पास रोपे हुए चीमटे में लगी हुई कड़ियों को वजा-वजाकर जोर-जोर से 'नारायण-नारायण' के नाम का उच्चारण करते हुए लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने की चेष्टा किया करता।

उस साधु ने अपने शरीर को तो पूरी तरह वश में कर रखा था, काया को झुलसाने वाली जेठ-आसाढ़ की धूप और लू के दिनों में वह 'पंच-धूणी' तपा करता, पर साधु का मन उसके कहे में न था। वह अपनी इच्छा-नुसार विचरण करता रहता। साधु ने मन को वश में करने की कोई आवश्यकता भी नहीं समझी थी और न इसके लिए कभी कोई प्रयत्न ही किया था। उसे तो केवल लोगों के मन पर अपने महात्मापन की धाक जमाने की ही चिन्ता रहती थी, क्योंकि वह लोकैषणा का वहुत भूखा था। अतः जव-जव साधु की जीभ रामधुन गाती होती, तो उसका मन कभी कलाल की भट्टी पर और कभी वेश्या के कोठे पर होता। कभी किसी राणी के महलों में उसके शृंगार-कक्ष में होता, तो कभी शौकीन वाबुओं के साथ वाग-वगीचों की सैर करता होता। साधु घर छोड़ने से पहले किसान

था, इसलिए उसका मन दिन में पांच-दस चक्कर अपने पुराने घर और खेत-खलिहान के भी लगा आता।

इस तथाकथित साधु-महात्मा के पास गांजा-सुल्फा पीने वाले मादिया भाइयों तथा लफगे लोगों का खासा जमघट लगा रहता और वे लोग बाबाजी की जय-जयकार करते रहते। जो भक्त लोग साधुओं को भोजन पहुंचाते, उनमें कई ऐसे भी थे, जो बीच-बीच में गांजा-सुल्फा और भांग की भेंट भी रोज भेज दिया करते। इसलिए गंजेड़ी-भंगेड़ी और सुल्फेबाजों के लिए ये सब चीजें इस 'धूणी' पर मुफ्त ही सहज-सुलभ थीं। कई सद्गृहस्थ भी बाबा की धूणी पर आकर वहां की राख अपने माथे पर लगाया करते और वे ऐसा इस आशा से करते थे कि पता नहीं, कब बाबा की मेहर हो जाय और अपना बेड़ा पार हो जाय, मनोवांछा पूरी हो जाय।

साधु की धूणी के ठीक सामने ही एक वेश्या रहती थी। स्वभावतः उसका रहना-सहना ठाठ-बाट था। कोठे से नृत्य और वाद्य की ध्वनि आया करती और कभी गुलाब, कभी हिना और कभी खस के बेशकीमती इत्र की मादक खुशबू आसपास के सारे वातावरण को मुग्ध किये रहती। साधु के मन में इस बात की ईर्ष्या होती और वेश्या के प्रति द्वेष भी होता कि देख, एक तो तू है जो ईश्वर की भक्ति करता है, पंच-धूणी तपता है, फिर भी तुझे बहुत साधारण भोजन मिलता है। मोटे खद्दर की खुरदरी लंगोटी और शरीर को चुभनेवाले कंबल ओढ़ने-बिछाने को मिलते हैं और एक वह अधम पापिनी नारी है, जिसे छप्पन प्रकार के व्यंजन खाने को मिलते हैं, फर्श पर बेशकीमती कालीनें बिछी हुई हैं और ओढ़ने-पहनने को पश्मीना, रेशम तथा जरी-कसीदे के कपड़े मिलते हैं। कपड़े ही क्यों, उसकी जूतियों पर भी सलमा-सितारा और बीच-बीच में मोती यों चमकते हैं, जैसे उसका भाग्य चमकता हो। कोठे के नीचे सवारी के लिए नामी घोड़ों की गाड़ी खड़ी रहती है, जिसपर बैठे हुए कोचवान और सईस के कपड़े भी राजसी ठाठ के होते हैं।

साधु का मन उसे रह-रहकर इस बात के लिए भी कचोटा करता कि अपने पास आनेवाले लोग तो अत्यन्त साधारण श्रेणी के हैं, जबकि उसके पास आनेवाले सभी लोग विशिष्ट श्रेणी के हैं, जैसे सेठ-साहूकार, अमीर-

उमराव, हाकिम-हुक्काम आदि। इसके सिवा कभी-कभी तो स्वयं राजकुमार भी दिखाई पड़ जाते हैं। राजकुमार ही क्यों, नगर के महापंडित सुदर्शनजी महाराज और प्रख्यात गोविन्देदवजी के पुजारी भी लुक-छिपकर वहां धोक देने पधारते हैं।

साधु इसे भगवान का अन्याय मानता, लेकिन यह सोचकर संतोप कर लेता कि आखिर मरना तो है ही। मंरने के वाद वेश्या के इन सारे भोगों का वदला उसे एक ही साथ व्याज-समेत चुकाना पड़ेगा, जवकि अपने को अपनी त्याग-तपस्या का सुफल मिलनेवाला है ही। फिर भी साधु का वह संतोष स्थायी होता और रह-रहकर उसे अपनी अवस्था पर तरस आता रहता। वहुत वार उसकी यह इच्छा होती कि वस चले तो अपना जीवन उस वेश्या के जीवन से वदल ले और फिर मन भरकर भोग भोगे।

उधर वेश्या की यह हालत थी कि वह जो कुछ करती, यह समझकर करती—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः।' वह सव-कुछ 'पद्मपत्रमिवांभसा' की तरह करती थी। उसका मन भगवान में रत रहता था। साधु की त्याग-तपस्या को वह भक्ति-भरी नजरों से देखती। वह जव साधु को तथा उसके भक्तों को यह पद गाते सुनती—'सुआ पढ़ावत गनिका तारी, तार्यो सदन कसाई', तो वह आत्म-विभोर हो उठती और उसका यह विश्वास और भी दृढ़ हो जाता कि उसके लिए भगवान के चरणों में स्थान है तो सही। वह स्वयं दो पद वरावर गुनगुनाती रहती। एक तो 'प्रभु, मोरे अवगुन चित न धरो' और दूसरा 'जिसों तिसों हूं दास तिहारो।'

कुल मिलाकर मतलव यह कि साधु तो मात्र तन से साधु था, मन से तो वह वेश्या ही था, जवकि वह वेश्या शरीर से वेश्या होते हुए भी मन से साधु थी।

साधु ने यह नियम वना रखा था कि जव भी कोई आदमी वेश्या के कोठे पर चढ़ता, तो वह एक पत्थर उठाकर अलग रख देता और लोगों से कहा करता कि यह उस वेश्या का पाप है। होते-होते वह ढेर वड़ा-सा हो गया तो एक दिन साधु ने पुकारकर उस वेश्या से कहा, "ज़रा आंखें खोल-कर देख तो सही, तेरे पापों का ढेर कितना वड़ा हो गया है!"

साधु के वचन सुनकर तथा पत्थरों के उस बड़े ढेर को देखकर वह

वेश्या एक वार तो कांप उठी, लेकिन दूसरे ही क्षण हँसकर साधु से इतना ही कहा, "साधु महाराज, दूसरों के दोष देखने से पहले ज़रा अपने भीतर झांककर तो देख लीजिये। तन्नै पराई कै पड़ी, तू तेरी नमेड़।"[१]

वात आई-गई हुई। दिन वीतते गये।

संयोग की वात कि उस साधु और उस वेश्या का शरीर एक ही दिन छूटा। जव विष्णु के पार्षद वेश्या के कोठे की तरफ गये और यम के भयंकर दूत साधु की धूणी की तरफ, तो साधु का अंगुष्ठ-मात्र जीव जोरों से चिल्लाया और वोला, "अरे, तुम भूल कर रहे हो! तुम्हें यमराज ने निश्चय ही सामनेवाली वेश्या को ले जाने के लिए भेजा है और विष्णु के जो पार्षद वहां गये हैं, वे मुझे लेने आये हैं। तुम दोनों एक साथ ही अपना-अपना रास्ता भूल गये हो। फिर से याद करो!"

यमदूतों ने मुगदर हिलाते हुए, गर्जनाभरी वाणी में कहा, "भूल इस धरती के लोगों से हुआ करती है, हम लोगों से नहीं। ज्यादा चीखो-चिल्लाओ मत, चुपचाप हमारे साथ चले चलो।"

साधु का वह जीव तो भयभीत हो गया, कांप उठा और सोच ही नहीं सका कि आखिर यह क्या हो गया और कैसे हो गया, लेकिन कुछ उपाय तो था नहीं, चुपचाप उनके साथ हो लिया।

यमपुरी जाने के लिए आकाश-मार्ग से उड़ते हुए यमदूतों ने उस नाम-धारी साधु के जीव से कहा, "ज़रा नीचे की ओर देख, तू शरीर से महात्मा था तो तेरे शरीर के इर्द-गिर्द जय-जयकार के नारे लग रहे हैं। उसपर चन्दन लेपा जा रहा है। मन्दिर के पुजारी शंख और घड़ियाल के साथ उसकी आरती कर रहे हैं, गृहस्थी लोग पुष्पों की वर्षा कर रहे हैं, श्मशान में कितनी वड़ी चन्दन की चिता तेरे अवशेष को जलाने के लिए तैयार की गई है! वस, इतने में संतोष मान! आखिर तू तन से ही तो संन्यासी था, इस-लिए तेरे तन का उचित आदर-सत्कार हो गया, मन में तो तेरे ईर्ष्या-द्वेष वसता था, भोग भोगने की वासना वनी रहती थी, इसलिए ऐसे जीव की जो गति होनी चाहिए, उसे भोगने लिए अव तैयार हो जा।"

"१. तुझे पराई वात से क्या वास्ता, तू अपनी सुधार!"

यमदूत फिर बोले, "एक बार तू नीचे की ओर झांककर उस वेश्या का हाल भी देख ले। वहां पर नौकरों ने किस तरह लूट-खसोट मचा रखी है। कोई कुछ लेकर भागा जा रहा है, कोई कुछ। उसके तन को मिट्टी देने की भी किसीको चिंता नहीं है और देख, उसके कपड़े किस तरह अस्त-व्यस्त हो रहे हैं और उसके शव पर किस बुरी तरह से मक्खियां भिनभिना रही हैं। वह तन से पतिता थी, तो उसके तन की गति भी वैसी ही हुई है, लेकिन मन से तो वह ईश्वर-परायण ही थी। वेश्या का धंधा करते हुए भी उसने जीवन में कभी किसीके साथ छल-छिद्र नहीं किया। किसी के प्रति उसके मन में राग-द्वेष नहीं था, इसलिए उसकी आत्मा सीधी विष्णु-लोक में गई है।"

साधु के जीव को अब सारी बात समझ में आ गई कि पुण्य-फल केवल स्थूल कर्मों से नहीं मिलता, बल्कि उसके लिए आत्मशुद्धि की आवश्यकता है। संसार में रहते हुए जो कुछ करे, वह निर्लिप्त भाव से करना चाहिए। महात्मा परसुरामजी के शब्दों में 'वहणी[1] हरे वसन को नीर, रहै अलीपी[2] सूकै चीर' की तरह।

१० तृष्णा और संतोष

एक सेठ था। अतुल सम्पत्ति थी उसके पास। जगह-जगह उसकी हवेलियां, कोठियां और बाग-बगीचे आदि थे। कारबार भी खूब फैला हुआ था। बर्मा और चीन तक उसके अपने कार्यालय थे तथा 'आढ़त' तो देश-विदेश में सर्वत्र ही थी।

धन की जो तीन गतियां बताई जाती हैं—याने दान, भोग और नाश—उनमें दो नम्बर में सेठ के धन का उपयोग या दुरुपयोग, जो भी

१. हवा।   २. अलिप्त।

कहो, होता था। महल-मालिया, बाग-बगीचे तथा नौकर-चाकर अनेक थे। सेठ ने विवाह भी कई कर रखे थे और उसकी हरएक पत्नी के लिए अलग-अलग महल में सारी सुख-सामग्री मौजूद थी। बुढ़ापा न आवे तथा भोग भोगने की शक्ति क्षीण न हो, इसके लिए उसने अनेक वैद्य अपने पास रख छोड़े थे और उनकी सलाह से वह भांति-भांति के रस, धातु, भस्म आदि कीमती दवाओं का सेवन करता रहता था।

लेकिन इस तरह बुढ़ापा टले तो कितने दिन टले? भोगों से तृप्ति तो कभी होती नहीं; आग में जितना घी डालो, उतना ही वह प्रज्वलित होगी। जोर से चलनेवाली आंधी तो गहन वन में लगी हुई दावाग्नि को और प्रज्वलित ही करेगी। यही बात भोग भोगने के बारे में लागू होती है। प्रकृति के अनुसार बुढ़ापा तो आना ही था। सेठ का तो भर्तृहरि के शब्दों में यह हाल हो गया कि 'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः।'

इतना धन होने पर भी धन से सेठ का मन नहीं भरा था। सेठ की ही क्यों, किसी भी अज्ञानी मनुष्य की धन से तृप्ति कभी नहीं होती। महावीर स्वामी ने 'इच्छासु आगास समा आणन्तिथे' कहा है, याने तृष्णा आकाश के समान अनन्त है। सेठ तो यही सोचता रहता कि अगली पीढ़ी का क्या होगा और उससे अगली पीढ़ी का क्या! सोचते-सोचते वह सात पीढ़ी का हिसाब लगा लेता और जब हिसाब के अनुसार सेठ को यह लगता कि अमुक पीढ़ी में जाकर तो यह सारा धन खत्म हो जायगा, तब वह उदास हो जाता। सेठ का यह हाल हुआ कि 'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।'

जिस नगर में सेठ रहता था, वहां एक बार एक ज्ञानी महात्मा का आगमन हुआ। सेठ ने उनकी प्रशंसा सुनी तो सोचा, एक दिन उनके पास चलना चाहिए। देखें, महाराज की कृपा हो जाय और वह अटूट सम्पत्ति दे दें तो मन को शांति हो, नहीं तो आजकल मन बहुत ही उद्विग्न रहने लगा है।

सेठ महात्माजी के पास पहुंचा और प्रणाम करके बैठ गया। ज्ञानी महाराज का उपदेश खत्म हुआ और सब लोग अपने-अपने घर चले गये, तब एकान्त देखकर सेठ ने महाराज को पुनः प्रणाम किया और अपनी इच्छा कह सुनाई।

महाराज ने कहा, "तुम चाहते हो, वैसा ही हो जायगा, लेकिन तुम्हें एक काम करना होगा।"

सेठ ने पूछा, "महात्माजी, वताइये, वह काम क्या है ?"

ज्ञानी महाराज ने कहा, "तुम्हारे घर के नजदीक ही एक टूटी-सी झोंपड़ी है। उसमें सास-वहू दो कुलीन और भगवद्भक्त स्त्रियां रहती हैं। तुम स्वयं प्रातःकाल एक थाली में दोनों के खाने जितना आटा-दाल ले जा-कर उन्हें दे आना। ऐसा करने से तुम जो अटूट सम्पत्ति चाहते हो, वह तुम्हें मिल जायगी। उस सम्पत्ति का अंत कभी नहीं होगा।"

सेठ तो निहाल हो गया और अपने घर चला आया।

रात को सेठ को नींद नहीं आई। सारी रात बैठा रहा और यह जपता रहा कि किसी तरह जल्दी से दिन उगे और वह ब्राह्मणी को 'सीधा' देकर आवे। कितने वड़े रोग की महाराज ने कितनी सस्ती दवा वता दी ! सेठ को रात-भर वहुत वेसब्री रही। उसे लगा, जैसे आज की रात तो पहाड़-जितनी वड़ी हो गई है। वह वहुत ही व्यग्र हो रहा था, लेकिन समय तो सदा अपनी गति से ही चला करता है, सेठ की व्यग्रता से उसकी गति में फरक कैसे पड़ सकता था !

आखिर दिन निकला और सेठ शौचादि से निवृत होकर जल्दी-से-जल्दी स्नानादि करके आटे-दाल की थाली लिये हुए ब्राह्मणी के घर पहुंचा।

सेठ ने वहां जाकर देखा कि सास तो पूजा में बैठी है और वहू बुहारी-झाड़ी, लीपना-पोतना आदि कर रही है। झोंपड़ी थी तो छोटी-सी ही और टूटी हुई भी, लेकिन इतनी स्वच्छ कि देवता रमा करें। झोंपड़ी के वीच में लहलहाता हुआ घना-सा तुलसी का एक 'बिरवा' लगा हुआ था, जिसकी पूजा-परिक्रमा करके वहां दीपक जलाया हुआ था।

सेठ यह सव देखकर स्तम्भित रह गया कि कितनी शांति है यहां ! कितना मनोहर और सुरम्य दृश्य है यह !

सेठ ने कहा, "आप लोगों के लिए एक थाली आटा-दाल, घी-चीनी आदि लेकर आया हूं, इसे स्वीकार कीजिये !"

सास तो कुछ बोली नहीं, क्योंकि वह एकाग्र-मन से पूजा और जाप में लगी हुई थी, किन्तु वहू ने कहा, "सेठजी, आज के खाने-भर का हमारे

पास है, इसलिए हम आपका यह सामान स्वीकार नहीं कर सकतीं ।"

सेठ ने कहा, "तो इससे क्या हुआ ! कल काम आ जायगा !"

बहू ने कहा, "हम लोग कल के लिए कभी संग्रह-परिग्रह नहीं करतीं। भगवान पर विश्वास रखते हैं, इसलिए कल की चिंता नहीं करतीं । वह अपने-आप ही नित्य खाने को भेज देता है । सूर्यनारायण के प्रताप से कोई प्राणी भूखा नहीं सोता । हर प्राणी को उसकी जरूरत के अनुसार मिल जाता है— 'कीड़ी को कण और हाथी को मण' ।"

सुनकर सेठ दिमूढ़ हो गया कि अरे ! एक तो ये लोग हैं कि कल के खाने की चिंता नहीं करते और एक तुम हो कि इतनी बड़ी सम्पत्ति है, फिर भी धाप[1] नहीं !

सेठ की आंखें खुली-की-खुली रह गईं। सचमुच ही उसे तो अब सच्चा धन, सच्ची और अटूट सम्पत्ति, प्राप्ति होगई थी—यानी संतोष-धन ।

संतोष की महिमा मनु महाराज ने भी अपनी लिखी 'मनुस्मृति' में गाई है। यह ग्रंथ आजसे २२००वर्ष पहले हिमालय की शीतल गोद में मनाली नामक नगरी में लिखा गया था। इसमें बारह अध्याय हैं। चौथे अध्याय में संतोष की इतनी प्रशंसा की गई है, जितनी ग्यारहवें अध्याय में तप की।

अपने यहां भी कहा है :

गोधन, गजधन, बाजिधन, और रतन धन खान ।
जब मिलि है संतोषधन, सब धन धूरि समान ।।

ज्ञानी महाराज ने सेठ को सचमुच ही अशेष सम्पत्ति दे दी थी ।

११ बदलती नैतिक मान्यताएं

एक राजा था। वह बहुत ही उदार स्वभाव का, न्यायप्रिय और प्रजावत्सल था। उसके राज्य में प्रजा की सुख-सुविधा के लिए जगह-जगह कुएं, तालाब, बावड़ी, पाठशालाएं, दवाखाने, अस्पताल, पक्की

१. तृप्ति ।

सड़कें और धर्मशालाएं वनी हुई थीं। वाणिज्य-व्यापार के लिए हाट-वाजारों की अच्छी व्यवस्था थी। लोग सुखी थे। कोई भी चोर, अपराधी विना सजा पाये वचकर न निकल जाय, इसके लिए पुलिस, थाने, अदालत आदि का तथा वकील-वैरिस्टरों का समुचित प्रवन्ध था।

एक वार राजा को इस वात का अभिमान हुआ कि मैं कितनी दक्षता-पूर्वक इस राज्य का संचालन कर रहा हूं, जिसके फलस्वरूप अपना राज्य कितना अच्छा चल रहा है। दूर-दूर तक इस राज्य की ख्याति है। अपनी फौजी व्यवस्था भी कितनी सुगठित है कि कोई दूसरा राज्य अपनी तरफ ललचाई आंखों से देख भी नहीं सकता।

कुछ दिन तो राजा ने अपने अभिमान की वात किसीसे कही नहीं, लेकिन आखिर एक दिन भरे दरवार में लोगों से पूछ वैठा, "आप लोग तथा प्रजा के दूसरे सारे लोग यहां की राज्य-व्यवस्था से संतुष्ट हैं न? देश-विदेश में अपनी राज्य-व्यवस्था की कैसी साख है?"

सभी दरवारियों ने एक स्वर से कहा, "हुजूर के राज्य में प्रजा की सुख-सुविधा की जैसी सुव्यवस्था है, वैसी दूर-दूर तक दूसरे किसी राज्य में नहीं है। सभी लोग सुखी और संतुष्ट हैं। महाराज की जय-जयकार दूर-दूर तक हो रही है।"

राजा अपनी वड़ाई की वात सुनकर खुश तो वहुत हुआ, लेकिन फिर एक प्रश्न और पूछा, "मेरे पिता का राज्य कैसा था और मेरे पितामह का कैसा था?"

दरवारियों ने कहा, "महाराज, आप स्वयं काफी वृद्ध हो चले हैं, शहर में तो शायद ही कोई आदमी हो, जिसने आपके पिता या पितामह का राज्य देखा हो। लेकिन हां, अपने नगर के पश्चिम में जो पहाड़ी है, उस पर एक साधु महाराज रहते हैं। उनकी उमर अवश्य काफी वड़ी है। वह पूरे वीतरागी हैं, कभी किसीसे कुछ चाहते नहीं। उन साधु महाराज ने आपके पिता का राज्य भी देखा है और पितामह का भी। आप चाहें तो उनके पास चलकर तुलनात्मक जानकारी कर सकते हैं।"

राजा अपने मंत्री तथा कुछ चुने हुए दरवारियों को साथ लेकर महात्मा के पास पहाड़ी पर गया। महात्माजी ध्यानावस्था में वैठे थे।

राजा खड़ा रहा। थोड़ी देर के बाद महात्माजी की आंख खुली। राजा ने तथा दूसरे लोगों ने दण्डवत् प्रणाम किया। राजा ने कहा, "महाराज, आपने मेरे पिता का राज्य भी देखा है और मेरे पितामह का भी। मुझसे प्रजा की जैसी सेवा बन पड़ती है, वह भी आपके सामने है। मैं आपके श्रीमुख से तीनों राज्यों का तुलनात्मक विवेचन सुनने आया हूं।"

महात्माजी ने कहा, "मैं तुम्हें एक घटना सुनाता हूं, जिसका सम्बन्ध तीनों राज्यों से है। यह घटना सुनकर तुम स्वयं निर्णय कर सकते हो कि किसका राज्य कितना अच्छा था।"

राजा ने कहा, "महाराज, अवश्य सुनाइये !"

"राजन्, तुम्हारे दादा के राज्य में एक किसान के पास कुछ जमीन थी। उसके घर में दूसरा कोई आदमी खेती में मदद करनेवाला नहीं था, अतः उस किसान ने अपनी जमीन दूसरे किसी किसान को खेती करने के लिए दे रखी थी। उन दिनों अधबंटाई या मालगुजारी की प्रथा नहीं थी। सो वह अपने खाने-भर का अनाज और आवश्यकता के अनुसार दूसरी कुछ वस्तुएं उससे ले लिया करता था। अकेला आदमी होने के कारण खेती तो पार नहीं पाड़ सकता था, लेकिन उन दिनों कोई आदमी आलसी और प्रमादी नहीं था। अतः वह किसान अपनी जमीन खेती के लिए दूसरे को दिये हुए तो था, किन्तु फिर भी जितनी बन पड़ती थी, अपने परिश्रम से उसकी मदद कर दिया करता था।

"एक दिन की बात कि वह दूसरा किसान जब जमीन जोत रहा था, तो उसके हल की नोक किसी सख्त चीज से टकराई। बैल रोककर उसने जमीन को थोड़ा-सा खोदा तो उससे अशर्फियों से भरा हुआ एक कलश निकला। वह सहजभाव से उस स्वर्ण-कलश को लेकर पहले किसान के पास गया और बोला, 'तुम्हारी जमीन में से यह कलश निकला है, इसे तुम्हें सौंपने आया हूं।'

"पहले किसान ने कहा, 'तुम भी कैसी भोली-भाली बातें करते हो!' मैं जमीन तुम्हें दे चुका। जमीन में जो कुछ निकले, वह तुम्हारा, चाहे अनाज हो, चाहे अशर्फी।'

"उन दोनों में आपस में काफी वाद-विवाद हुआ, पर कोई भी उस

कलश को ग्रहण करने को तैयार नहीं हुआ। आखिरकार उन्होंने फैसला किया कि राजा के पास चलकर यह कलश उन्हें सौंप देना चाहिए। वे इसे अपने खजाने में रख लें। दोनों किसान आपके पितामह के पास आये और बोले, 'महाराज, यह स्वर्ण-घट आपकी भूमि में से निकला है। आप इसे ग्रहण करें।'

"राजा ने कहा, 'तुम दोनों ही कितने नासमझ हो! राज्य जमीन दे चुका, अब उसमें जो कुछ निकले, वह किसान का। राज्य का उसपर क्या हक हो सकता है! आप दोनों में से जिसका भी हक हो, वह इसे रख ले।'

"दोनों किसान निराश हुए और आखिर यही तय हुआ कि जिस जमीन से यह निकला है, प्राप्त हुआ है, उसीमें वापस गाड़ दिया जाय और ऐसा ही किया गया।"

राजा ने सुनकर कहा, "महात्मन्, ऐसा क्यों किया गया? धन का सदुपयोग हो सकता था, पाठशाला वगैरा खुलवाई जा सकती थीं; औषधालय, अस्पताल बनवाये जा सकते थे। गरीब लोगों को उनके जीवन-निर्वाह के लिए मदद दी जा सकती थी।"

महात्मा मुस्कराये और बोले, "राजन्, उन दिनों विद्या मोल नहीं विकती थी, वैद्य लोग नौकरी नहीं करते थे, दान कोई नहीं लेता था, सभी अपने-अपने परिश्रम की कमाई खाते थे।"

सुनकर राजा चुप हो गया।

साधु ने कथा फिर आगे बढ़ाई :

"समय की गति के अनुसार जो जन्मता है, वह मरता है ही। इस नियम के अनुसार समय आने पर आपके पितामह का देहान्त हो गया और आपके पिता गद्दी पर बैठे। साथ ही वे दोनों किसान भी वैकुंठवासी हुए।

"दोनों किसानों के लड़के बड़े हुए। उस बीच नैतिक मान्यताओं में थोड़ा-थोड़ा ह्रास आ गया था, इसलिए जमीन के मालिक के लड़के के मन में यह बात आई कि पिताजी को जो स्वर्ण-कलश देने के लिए फलां किसान आया था, वह ठीक ही आया था। जमीन उसे खेती करने के लिए दी गई थी। जमीन से फसल उगे, वह उसकी, लेकिन जमीन के भीतर का धन उसका कैसे हुआ? पिताजी ने वह धन लेने से इन्कार करके भूल की थी।

"यह सोचकर वह गया दूसरे किसान-पुत्र के पास और वोला, 'भैया, जो स्वर्ण-घट तुम्हारा वाप मेरे वाप को देने गया था, वह ठीक ही गया था। जमीन तो तुम्हें केवल खेती करने के लिए ही दी गई थी, अतः मेरे वाप ने उस धन को ग्रहण करने से इन्कार करके भूल की थी। मैं उस भूल को सुधारने आया हूं।'

"जो किसान जमीन जोतता था, उसके मन में भी यह वात आ चुकी थी कि मेरा वाप कितना भोला और नासमझ था कि अपने खेत में निकला हुआ धन दूसरे को देने गया था। जव जमीन अपने को वता दी गई तो उसमें चाहे जो निकले, वह अपना है। अगर स्वर्ण-कलश की जगह सांप निकलता और वाप को काट लेता तो मृत्यु उसकी ही होती —न तो पहले किसान की और न राजा की ही। इसलिए पहले किसान के लड़के से उसने कहा, 'भैया, भूल तुम्हारे वाप ने नहीं, वल्कि मेरे वाप ने की थी, जो अपना धन दूसरे को देने गया था।'

"पहले किसान का वेटा चुपचाप लौट आया, क्योंकि उस वक्त तक हवा इतनी दूषित नहीं हुई थी कि धन के लिए एक-दूसरे आपस में लड़ाई-झगड़ा करें।

"दूसरा किसान अर्शफियों का वह घड़ा चुपचाप जमीन में से निकाल लाया। चूंकि नैतिक ह्रास शुरू हो चुका था, इसलिए कुछ लोग दान भी ग्रहण करने लगे थे। अतः किसान के वेटे ने नगर के कुछ लोगों को पक्ष में करने के लिए थोड़ा धन इधर-उधर वांटने में खर्च कर दिया और मौज से रहने लगा।

"यह तो हुई दो किसानों की वात। इधर आपके पिताजी के मन में भी लोभ समाया कि जमीन के भीतर का धन तो राज्य का ही होता है, वह किसान का कैसे हुआ? अतः मेरे पिताजी ने उस कलश को ग्रहण करने से इन्कार करके भूल की थी। राजाजी, याने आपके पिताजी, ने आदमी भेजा उस किसान के पास, जो कि जमीन जोतता था। आदमी ने किसान को राजा की कही हुई वात वताई तो किसान साफ नट गया और वोला कि राज्य तो जमीन मुझे दे चुका, उसमें जो कुछ भी निकले, वह मेरा है। राज्य को इससे क्या लेना-देना? राजाजी चाहें तो मैं दस-

बीस आदमियों को लेकर हाजिर हो सकता हूं, जो मेरी बात का समर्थन कर देंगे। ये दस-बीस आदमी वही थे, जिन्हें किसान-पुत्र कुछ धन देकर अपने पक्ष में कर चुका था। आदमी ने वापस आकर राजाजी को सारी बात कही तो वह भी कुछ नहीं बोले। चुप रहना ही ठीक समझा।

"समय बीतता गया। जिस तरह पत्ते पकने पर अपने-आप झड़ जाते हैं, उसी तरह समय आने पर तुम्हारे पिताजी स्वर्गवासी हो गये और वे दोनों किसान-पुत्र भी।

अब आया आपका राज्य! हर बात के कानून-कायदे बन गये। अदालतें और पुलिस-थाने खड़े हो गये, मुकदमा लड़ने के लिए वकील-बैरिस्टर भी पढ़-लिखकर तैयार हो गये। दोनों किसान-पुत्रों के बेटों में आपस में उस स्वर्ण-कलश को लेकर वाद-विवाद हुआ। नौबत यहां तक पहुंची कि उनमें मारपीट हो गई। अदालत में मामला गया तो दोनों किसानों को मारपीट के अपराध में छह-छह महीने की सजा हो गई और अशर्फियों का वह कलश राज्य की सम्पत्ति माना गया।

"अब राजन्, हालत यह है कि वह अशर्फियों वाला कलश तो आपके खजाने में है और वे दोनों किसान आपकी जेल में हैं, क्योंकि न्याय-प्रिय राजा के राज्य में कोई अपराध करके सजा से कैसे बच सकता है?

"घटना मैंने सुना दी। राज्य के भले-बुरे होने का तुलनात्मक निर्णय तुम स्वयं कर लो।"

राजा पसीने-पसीने हो गया और महात्माजी को दण्डवत् प्रणाम करके अपने अहंकार-जनित अपराध के लिए क्षमा मांगकर अपने घर लौट आया। उसे इस बात का भान हो गया कि राज्य-व्यवस्था वही अच्छी मानी जानी चाहिए, जिसमें प्रजा के नित्य के कामों में राज्य की कम-से-कम दखलंदाजी हो।

१२ सूम और वैतरणी

एक आदमी के पास पैसा तो ठीक-ठाक था, लेकिन वह कंजूस इतना था कि भाड़ा दिये विना काया चले तो भोजन भी नहीं करे। उसकी पत्नी अपने पति के मूजी स्वभाव के कारण बहुत दु:खी रहा करती। बार-बार अपने पति को समझाने की चेष्टा भी करती और कहा करती, "कुछ तो लोक-लाज की वात भी सोचो, आंख खोलकर देखो और कान खोलकर सुनो, तो तुम्हें पता चले कि लोग तुम्हारी कितनी निंदा करते हैं। कभी तो परलोक की वात भी सोचा करो कि भगवान के घर जाकर क्या उत्तर दोगे!"

लेकिन चिकने घड़े पर पानी की बूंद टिके तो उस कंजूस को अपनी पत्नी की बात लगे। पत्नी वेचारी दिन-भर घुटी-घुटी रहती। न कभी मन्दिर जाती और न गंगास्नान के लिए ही, क्योंकि मन्दिर जाय तो छटांक-आधी छटांक अनाज ठाकुरजी के सामने चढ़ाना पड़े और गंगा-स्नान के लिए जाय तो पैसा-अधेला घाटिया[1] को देना पड़े, जबकि डर यह था कि ऐसा करने से पतिदेव रुष्ट हो जायंगे। अत: वह बेचारी चुपचाप उदास मुंह किये घर में पड़ी रहती। घर का धंधा जैसा कुछ होता—जैसे पानी लाना, भोजन पकाना बरतन मांजना आदि—मन मारकर करती रहती।

उस वनिये के बारे में, उसकी कंजूसी के कारण, लोग यह कहने लग गये थे कि प्रात:काल इसके दर्शन हो जायं, तो दिनभर खाने को नहीं मिले।

दिन बीतते गये और वनिया बूढ़ा हो गया, लेकिन उसकी वृत्ति में रत्ती-भर भी फरक नहीं पड़ा। एक दिन उसकी पत्नी ने हिम्मत बटोरकर कहा, "देखिये, आपको भी बुढ़ापा आ गया है और मुझे भी। जीवन-भर अपन लोगों ने किसीको एक लोटा पानी भी नहीं पिलाया। अब अन्त समय में एक बात मेरी मान लीजिये। मैं आपसे और कुछ भी नहीं चाहती, केवल इतना ही चाहती हूं कि आप अपने हाथ से एक गाय किसी ब्राह्मण को दे दीजिये, जिससे सुखपूर्वक वैतरणी तो पार हो सके।"

वनिये ने कहा, "मैं तो 'द' अक्षर से ही डरता हूं। मुंह से यह अक्षर

१. गंगा-स्नानार्थ घाट पर जानेवाले लोगों के चन्दन लगानेवाला ब्राह्मण।

निकल न जाय, इसलिए दिल्ली को हस्तिनापुर और दुकान को हाट कहता हूं।"

तब बनियानी ने अपने पति को एक कहानी सुनाते हुए कहा, "एक बार मनुष्य, देवता और राक्षस तीनों मिलकर ब्रह्माजी के पास गये थे और उनसे कहा था कि आप अपनी रुचि के अनुसार हमें कुछ दीजिये। ब्रह्माजी ने तीनों को ही 'द' अक्षर दिया था।...

"उस 'द' अक्षर का अर्थ देवों ने तो यह निकाला था कि अपन लोग विलासी बहुत हैं, इसलिए ब्रह्माजी ने अपन को 'द' अक्षर के द्वारा दमन, याने इन्द्रिय-दमन, की शिक्षा दी है। राक्षसों ने यह अर्थ निकाला कि अपन लोग हिंसा बहुत करते हैं, इसलिए 'द' अक्षर द्वारा अपन को दया की शिक्षा दी है और मनुष्य ने 'द' का अर्थ निकाला दान, याने देना। तीनों का ही अर्थ ठीक था।"

सूम की पत्नी ने आगे फिर कहा, "आपको मालूम होना चाहिए कि जो आदमी केवल संग्रह करता है, कभी किसीको कुछ देता नहीं, उसे हमारे शास्त्रकारों ने 'दस्यु' की संज्ञा दी है।"

मूजी ने कहा, "मैं ये सब बातें नहीं सुनना चाहता। तुम अपना ज्ञान अपने पास ही रखो।"

बनियानी बेचारी क्या करती ! वह तो ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी। उसके आंसुओं से उस मूजी के पैर भीग गये, लेकिन कलेजा नहीं पसीजा। आखिर कलेजा पांवों में तो था नहीं, वह तो अपनी जगह पर था, अतः पांवों पर पड़े आंसुओं से कलेजा पसीजता भी तो कैसे पसीजता ?

रो-धोकर बनियानी तो अपने धंधे में लग गई और बनिया चला गया अपनी हाट पर।

कुछ दिन और यों ही गुड़क गये। दोनों की ही मृत्यु अधिक नजदीक आ गई। बनियानी ने एक तरकीब सोची। उसके पास सोने की दो चूड़ियां थीं। अपने पति से लुक-छिपकर उसने एक सुनार को बुलाया और बोली कि इसकी एक छोटी-सी गाय बनाकर ला दो। सुनार गाय बनाकर लाया तो उसने उसके ऊपर खूब मोटी-मोटी मिट्टी थपेड़ दी और उसे मिट्टी का गाय का रूप दे दिया। उसके बाद वह पड़ोस में ही रहनेवाले एक ब्राह्मण

को वुलाकर एकान्त में वोली, "मेरा पति तुम्हें एक गाय देगा। वह यों तो ऊपर से मिट्टी की है, लेकिन उसके भीतर छोटी-सी एक सोने की गाय निकलेगी, अतः तुम उस गाय का दान स्वीकार कर लेना।" ब्राह्मण को उसकी वात का विश्वास हो गया और वह मान गया।

कुछ दिन वीच में देकर वनियानी ने पति से कहा, "मैंने एक युक्ति विचारी है, जिसमें आपका एक भी पैसा खर्च नहीं होगा और मुझे सन्तोष हो जायगा। मैं अपने हाथ से मिट्टी की एक गाय तैयार कर देती हूं, उसे आप किसी ब्राह्मण को दे दीजिये।"

वनिये कहा, "भला मिट्टी की गाय कोई क्यों लेने लगा ?"

पत्नी ने कहा, "यह काम मेरे जिम्मे रहा, मैं किसी-न-किसी को राज़ी कर लूंगी।" इसपर वनिये ने अनिच्छापूर्वक स्वीकृति दे दी।

दो-चार दिन वीतने पर वनियानी ने अपनी वह मिट्टी थपेड़ी हुई सोने की गाय आंगन में लाकर खड़ी कर दी और उस ब्राह्मण को वुलाकर अपने पति से वोली कि इन्हें आप यह गाय दान कर दीजिये।

वनिये ने कहा, "तुम मेरी उमर-भर की सौगन्द तुड़ा रही हो, लेकिन खैर, तुम्हारी वात ही रही सही।" ऐसा कहकर उसने वह गाय ब्राह्मण को दान में दे दी। फिर भी वनिये के मन में कुछ संशय रहा कि इसमें कुछ रहस्य तो नहीं है, अतः उसने ब्राह्मण से पूछा, "महाराज, आपने मिट्टी की गाय लेना स्वीकार क्यों किया ? यह आपके क्या काम आयेगी ?"

ब्राह्मण ने कहा, "जजमान, जो मीठा खाता है, वही खट्टा भी खाता है। असली गाय जव हम लोगों को ही मिलती है, अव एक वार मिट्टी की गाय लेने का काम पड़ गया है तो इसको लेने दूसरा कौन आयेगा ? दान लेना-देना तो ब्राह्मण का धर्म है।"

ब्राह्मण की यह वात सुनकर बनिये को विश्वास हो गया कि रहस्य कुछ भी नहीं है, फिर भी उसके मन में यह कसक तो वनी ही रही कि अपनी सौगन्द टूट गई।

ब्राह्मण उस गाय को लेकर अपने घर चला गया। वनिये ने अपनी पत्नी से पूछा कि क्यों, अव तो तुम खुश हो न ? वनियानी थोड़ी मुलकी और वनिया मन में कसक लिये अपनी हाट पर चला गया।

घर जाकर ब्राह्मण ने मिट्टी धोई तो सचमुच ही भीतर से सोने की छोटी-सी गाय निकली, जिसे पाकर वह संतुष्ट हो गया।

नियति के नियमानुसार हर व्यक्ति की मृत्यु एक-न-एक दिन होती ही है। उस वनिये को भी एक दिन मृत्यु ने आ दवोचा। वह मरकर वैतरणी पर पहुंचा तो एक मिट्टी की गाय उसके सामने खड़ी थी। वनिये ने वैतरणी पार करने के लिए गाय की पूंछ पकड़ी। गाय आगे वढ़ी, लेकिन थोड़ी ही दूर जाने पर मिट्टी तो सारी गल-गलकर उतर गई और उसे सोने की गाय दिखाई पड़ी। देखते ही वनिये के तो होश उड़ गये। पागल की तरह अपनी पत्नी को गालियां देने लगा। दोनों हाथ ऊंचे करके चिल्लाता हुआ वोला, "हाय, कुलच्छिनी ने दगा करके मुझे डुवो दिया, मेरा सारा घर लुटा दिया!"

ऐसा कहकर वनिये ने जव अपने हाथ नीचे किये, तवतक वह गाय कुछ आगे निकल चुकी थी। अव वनिये का हाथ गाय की पूंछ तक नहीं पहुंच सकता था, अतः वह वहां-का-वहां ही खड़ा रह गया। सारी वस्तु-स्थिति उसकी समझ में आ गई और वह पछताने लगा। लेकिन अव पछताने से क्या हो सकता था?

उस दिन से आजतक वह वनिया वहीं वैतरणी के वीच में खड़ा है। और खड़ा-खड़ा पार जानेवाले दूसरे लोगों को अपनी दुःख-गाथा सुनाता रहता है।

इस कहानी के पाठकों में से अगर किसी को उस वनिये पर दया आ जाय और वह अपने जीवन में एक की जगह दो गाएं ब्राह्मण को दे दे और वह वैतरणी पार करते समय एक गाय की पूंछ उस वनिये को थमा दे, तो वेचारा वह भी पार हो सकता है, नहीं तो पता नहीं, कवतक वहीं खड़ा-खड़ा वैतरणी पार करनेवाले दूसरे लोगों से अपनी दुःख-गाथा कहता रहेगा और साथ ही 'द' अक्षर की महिमा और माहात्म्य का भी वखान करता रहेगा—जिस 'द' अक्षर से वह जीवन-भर इतना कतराता, डरता और वचता रहा था।

१३ ||||| दान श्रद्धापूर्वक

एक सेठ था। उसके यहां सवा मन अनाज का सदाव्रत दिया जाता था। सवा मन अनाज उसके नौकर रोज बांटा करते थे, लेकिन उस दान में कोई दया की भावना नहीं थी, केवल नाम की चाह थी। सदाव्रत पाने वालों के प्रति आदर-सत्कार का तो कोई सवाल ही नहीं था, केवल यन्त्र-वत् काम चला करता। कभी-कभी तो ऐसा भी होता था कि अगर सदा-व्रत लेनेवाले लोगों की संख्या जरूरत से ज्यादा हो जाती और वह सवा मन अनाज सबके हिस्से में नहीं आता, तो बचे हुए लोगों को मार-पीटकर भी भगा दिया जाता।

उस सेठ के एक पुत्रवधू थी। चूंकि उसने भागवत का वह वाक्य याद कर रखा था, जिसमें यह कहा गया है कि 'दानमानाभ्यां' और उपनिषद् का 'श्रद्धया देयं' तथा 'अश्रद्धयाऽदेयं' भी याद कर रखा था—अत: वह इस दान का कोई महत्व या माहात्म्य नहीं मानती थी, बल्कि उसे तो इसके प्रति कुछ ग्लानि ही थी।

वह स्वयं थोड़ा-सा अनाज लेकर उसे अपने हाथ से अच्छी तरह बीन-छांटकर स्वयं ही पीसती और अपने हाथ से अच्छी-अच्छी रोटियां बनाकर कोई-न-कोई सत्पात्र ढूंढ़कर उसे आदर और स्नेह के साथ भोजन कराया करती। स्वयं ही उसके लिए आसन बिछाती और भोजन करनेवाले को अपने हाथ से पंखा भी डुलाया करती।

समय बीतता गया और एक दिन ऐसा आया कि उस सेठ की मृत्यु हो गई। थोड़े वर्षों के बाद वह पुत्रवधू भी चल बसी। दोनों का ही जन्म एक राजा के यहां हुआ—लेकिन सेठ का जन्म हाथी के रूप में और पुत्रवधू का राज-कन्या के रूप में।

लड़की के वयस्क होने पर राजा ने उसका विवाह किया। विवाह में अन्य वस्तुओं के साथ वह हाथी भी दहेज में दिया गया। जब वह लड़की हाथी पर बैठने लगी तो हाथी को अपने पूर्वजन्म की सारी कथा याद आ गई और उसने सोचा, "मैं जो सवा मन अनाज का नित्य दान करता था, उसे तो हाथी-रूपी पशुयोनि में जन्म मिला और यह लड़की जो मुश्किल

से एक पाव अन्न की रोटियां देती थीं, उसे राजपद मिला। यह तो भगवान के घर का अन्याय है। खैर, भगवान के घर का अन्याय अगर है भी, तो अपन बर्दाश्त नहीं करेंगे और इस लड़की को अपने ऊपर सवार नहीं होने देंगे।"

यह सोचकर हाथी ने जोर से सिर हिलाया। इस बीच राजकन्या को भी पूर्वजन्म की स्मृति जाग उठी थी, अत: अब उसके लिए हाथी की पीठ पर चढ़ने का तो सवाल ही नहीं रह गया था। उसने अपनी सवारी के लिए एक 'सोनल'[1] रथ मंगा लिया, लेकिन उसने हाथी के कान में इतना अवश्य कह दिया, "जो हुआ उसे आप भगवान के घर का अन्याय कैसे मानते हैं? आप सवा मन अनाज रोज बांटते थे तो आपको सवा मन ही मिल भी रहा है, कम थोड़े ही मिल रहा है; और मैं अगर एक पाव देती थी तो मुझे एक पाव से ज्यादा मिलता भी कहां है? फरक इतना ही है कि आप जिस भावना से और जिस पद्धति से अनाज बांटते थे, उसकी तरह आपको मिल रहा है और मैं जिस सम्मान और भावना से दिया करती थी, मुझे उसी सम्मान के साथ मिल रहा है।

हाथी के अन्तर्चक्षु खुल गये और वह शान्त हो गया। राजा की कन्या उस हाथी को अपने साथ लेती गई और जीवन-भर उससे किसी तरह का परिश्रम का काम नहीं लिया। उसे बहुत ही सुख और आदरपूर्वक रखा। उसकी सेवा के लिए कई नौकरों को अलग से ही रख दिया था, जो कि हाथी को नहलाने, सहलाने और पानी पिलाने का तथा उसे दिये जानेवाले घास, अनाज और पत्तों को साफ करने का काम किया करते थे। वह खुद भी दिन में दो-तीन बार आकर देख जाया करती कि हाथी की सेवा में किसी तरह की कमी तो नहीं है।

सच ही है, दान में संख्या या मिकदार का कोई महत्व नहीं है, भावना ही प्रधान है।

१. सुनहरा, स्वर्ण का बना।

१४ ||||| 'कर्जो भलो न बाप को'

एक आदमी था। वह पशु-पक्षियों की बोली समझता था। एक बार वह अपनी गरीबी के कारण एक सेठ से रुपये उधार मांगने गया। सेठ का गांव चारेक कोस दूर पर था। अतः वहां पहुंचते-पहुंचते उस आदमी को शाम हो गई। सेठ 'वोरगत' का काम तो करता था, लेकिन स्वभाव का सज्जन बहुत था। रुपया वापस लेने के लिए किसी को सताता नहीं था। वह व्याज की दर भी अपेक्षाकृत नीची रखता था।

रुपया उधार चाहनेवाला आदमी जब सेठ के यहां पहुंचा, तो उसके मुनीम-गुमाश्ते वहां से जा चुके थे। अतः सेठ ने उससे कहा, "आज रात तुम यहीं ठहर जाओ, कल प्रातःकाल तुम्हें रुपये दिला दूंगा।"

सेठ ने उस आगन्तुक महाशय को सोने के लिए जो जगह बताई थी, उसके पास ही दो बैल बंधे थे—एक पीला और एक काला।

आधी रात बीती होगी कि काले बैल ने कहा, "मेरे पीले भाई, मैं तो अभी मर रहा हूं। अपन दोनों बहुत दिन साथ रहे। एक ही गाड़ी में जुता करते, साथ ही चरा करते, साथ ही पानी पीने जाया करते, इसलिए बिछुड़ने का दुःख तो है, लेकिन सेठ की सेवा मैं कुछ और दिनों तक करूं, ऐसी स्थिति लेन-देन के खाते के अनुसार अब नहीं रह गई है। सेठ का कर्जा जो मेरे प्रति था और जिसको चुकाने के लिए इसकी सेवा करनी पड़ रही थी, वह पैसा-पैसा चुक चुका है। अतः मैं मर रहा हूं। भगवान तुम्हें सुखी रखे, यह शुभकामना तुम्हारे लिए छोड़े जा रहा हूं।"

पीले बैल ने फिर कहा, "मेरे काले भाई, मुझे तो अभी कई दिन रगड़ना पड़ेगा, क्योंकि पूर्वजन्म में मैंने इस सेठ से जो रुपये उधार लिये थे, उनमें से दस हजार अब भी देने बाकी हैं। इसलिए जबतक वह कर्जा पूरा-पूरा चुका न दूं, तब तक मुझे तो इस सेठ की सेवा करनी पड़ेगी। मरने के बाद फिर भी किसी-न-किसी रूप में सेठ के यहां आना पड़ेगा, क्योंकि इस जन्म में मांगत चुकी पार नहीं पड़ेगी। इस तरह आगामी जन्म में फिर सेवा करके इसका कर्जा उतारना पड़ेगा। हां, एक बात अगर हो जाय तो मेरा छुटकारा तुरन्त हो सकता है, लेकिन वह पार पड़नेवाली नहीं है।"

काले वैल ने पूछा, "वह वात क्या है ?"

तव पीले वैल ने उत्तर दिया, "अगर यह सेठ दस हजार रुपये की शर्त बदकर राजा के सबसे बड़े वाले हाथी के साथ मुझे लड़ा दे, तो सेठ को राजा से दस हजार रुपये मिल जायं और मेरा कर्जा भी चुक जाय।"

काले वैल ने कहा, "हाथी से तुम कैसे लड़ सकोगे ?"

तव पीले वैल ने कहा, "वह हाथी मेरा पूर्वजन्म का कर्जदार है। अतः मेरे सामने सिर नहीं उठा सकता। कर्जा इतना वुरा होता है कि वह हाथी ही क्यों, कोई भी कर्जदार अपने पावनेदार के सामने सिर ऊंचा कर ही नहीं सकता। कहा भी है, 'कर्जो भलो न वाप को, रामहिं राखे टेक।' 'पावक वैरी रोग ऋण सपनेहुं रखिये नाहिं।' महाभारत में जव यक्ष ने युधिष्ठिर से सुखी आदमी की परिभाषा पूछी थी, तो युधिष्ठिर ने कहा था, 'अनृणी च अप्रवासी च।' लेकिन मुश्किल यह है कि इस सेठ को इस वात का पता कैसे लगे ? खैर, जो होना होगा सो होगा। जितने दिन भोगना होगा, उतने दिन भोगूंगा। तुम सुखपूर्वक जाओ।"

दोनों वैलों की आंखों में आंसू छलछला आये थे। दोनों एक-दूसरे से गले मिले और मिनटों में ही उस काले वैल की मृत्यु हो गई।

वह आदमी, जो रुपये उधार लेने के लिए आया था, दोनों वैलों में आपस में हुए वार्तालाप को सुन रहा था, क्योंकि उस रात उसे नींद नहीं आई थी। पशु-पक्षियों की वोली का जानकार होने के कारण वह सव-कुछ समझ गया। अतः सुवह उठते ही उसने सेठ से कहा, "देखिये सेठ साहव, देखने में भला-चंगा आपका काला वैल रात को एकाएक मर गया है। वह क्यों मरा है, यह कारण मैं जानता हूं, लेकिन उसे अभी प्रकट नहीं करूंगा। फिर भी मैं आपको एक कमाई की वात वताता हूं। आप उस पर विश्वास-पूर्वक अमल करें, तो आपको दस हजार रुपये मिले पड़े हैं।"

सेठ ने आतुरता से पूछा तो उसने कहा, "राजा के साथ दस हजार रुपये की शर्त वदकर आप इस पीले वैल की राजा के सवसे बड़े हाथी के साथ भिड़न्त करा दें। मैं विश्वास दिलाता हूं कि यह वैल जीतेगा।"

सेठ वोला, "तुम भी कैसी अनहोनी वातें करते हो ! कहां तो राजा का वह मदमत्त हाथी और कहां मेरा यह साधारण वैल !" लेकिन आगन्तुक

ने जब फिर कहा और बहुत आत्म-विश्वासपूर्वक कहा, तो सेठ को वह बात जंच गई। उसने सोचा—यह आदमी जब इतने जोरों के साथ कह रहा है तो इसमें कुछ-न-कुछ रहस्य अवश्य है। सेठ राजाजी के पास गया और प्रस्ताव किया कि मैं अपने बैल को आपके बड़े हाथी से लड़ाना चाहता हूं और वह भी यों ही नहीं, दस-दस हजार रुपये की शर्त बदकर !

राजा ने कहा, "सेठसाहब, मालूम होता है, आप भांग पीकर आये हैं। होश में बातें नहीं कर रहे हैं, वरना इस तरह की बेतुकी बात कभी न कहते ! कहां तो मेरा मदोन्मत्त हाथी, जिसे देखकर एक बार सिंह का भी दिल दहल जाय और कहां आपका बैल ! क्यों व्यर्थ में दस हज़ार रुपये गंवाते हो ? क्यों बैल को मरवाते हो और क्यों अपनी लोक-हँसाई करवाते हो ?"

सेठ ने कहा, "राजासाहब, बनिया यदि नशे में भी कोई शर्त बद लेता है, तो हार जाने पर उसका भुगतान किया करता है। इस मामले में बनिये की बात एक ही हुआ करती है। मैं रोज़ एक पंडित से वाल्मीकि-रामायण की कथा सुना करता हूं। कथा में कल ही एक वाक्य आया है—'रामो द्विर्नाभिभाषते।' उसीके अनुसार आप मेरी भी यह बात समझें। मैं जब शर्त बद रहा हूं, तो हार जाने पर रुपये अवश्य दूंगा। इसलिए आपको मंजूर हो तो शर्त पक्की रही और कल का समय रहा।"

राजा हँसा और बोला, "अच्छी बात है, तुम्हारे सिर पर भूत सवार हुआ है, तो भोगो।"

शर्त बदी गई और हाथी तथा बैल के लड़ने के लिए एक बड़ा-सा घेरा बनवा दिया गया। तमाशा देखने को आनेवाले लोगों के बैठने के लिए चारों तरफ कुर्सियां वगैरा डाल दी गईं।

दूसरे दिन निश्चित समय पर सेठ का बैल और राजा का हाथी घेरे के भीतर आये। ज्योंही दोनों की चार आंखें हुईं, तो हाथी का सिर नीचा हो गया। बैल हाथी पर झपटा तो हाथी दुम दबाकर भागा। राजा को बहुत आश्चर्य हुआ कि यह क्या हुआ ! लोगों ने तालियां बजाकर घोषित कर दिया कि सेठ का बैल जीत गया है और राजा का हाथी हार

गया है।

सेठ अपने वैल को अपने घर ले आया और साथ में अपनी शर्त के जीते हुए दस हजार रुपये भी। राजा का हाथी उस घेरे से निकलकर भागा तो ऐसा भागा कि उसने जंगल में जाकर ही सांस ली।

सेठ हवेली पहुंचे, इससे पहले ही उधार मांगनेवाला वह आदमी तो अपने घर जा चुका था, क्योंकि उसकी समझ में यह वात आ गई थी कि कर्ज करने का क्या दुष्परिणाम होता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि सेठ का वह पीला वैल उसी रात को मर गया, क्योंकि उसने भी अपनी मांगत पूरी चुका दी थी।

१५ कंजूसी बुरी, मितव्ययिता अच्छी

एक सेठ था। वह कंजूस तो नहीं था, लेकिन मितव्ययी था। कंजूस होना दुर्गुण है, मितव्ययी होना सद्गुण। उसी तरह जैसे उदार होना सद्-गुण और फिजूलखर्च होना दुर्गुण। वह किसी भी चीज को वरवाद होते देखना पसन्द नहीं करता था। किसीको ठगता नहीं था, लेकिन साथ ही यह भी उसे अच्छा नहीं लगता था कि उसके घर का कोई आदमी ठगावे।

एक वार की वात कि उसके लड़के की पत्नी नई-नई अपनी ससुराल आई थी। जव उसने यह देखा कि उसका ससुर खरीदे हुए घी को तुलवा रहा है और वजन करते वक्त एक 'टोपा'[1] घी पक्के आंगन पर गिरने पर उसे ससुर महाशय ने सहज भाव से उठाकर अपने हाथ पर मल लिया है, तो पुत्रवधू को लगा कि जिस घर के आदमी इतने कंजूस हैं कि एक 'टोपा' घी की भी जिन्हें समाई नहीं है, उस घर में मेरा निभाव कैसे होगा!

१. बूंद

अतः उसने इस बात की परीक्षा लेनी चाही कि ससुर सचमुच ही इतने कंजूस हैं या इसमें और कुछ रहस्य है। उसने पड़ौस के एक आदमी को बुलाकर ससुर की परीक्षा लेने के लिए एक योजना बनाई और उसके अनुसार दूसरे दिन माथे में दर्द होने का बहाना लेकर लेट गई। बहुत जोर का दर्द होने की शिकायत करने लगी। चूंकि बहू नई-नई आई थी, इसलिए सारे घर की लाड़ली थी, अतः कभी किसी डाक्टर को, कभी किसी वैद्य को और कभी किसी हकीम को बुलाया गया। भांति-भांति की दवाएं दी गईं, लेकिन दर्द तो कम होने का नाम ही नहीं लेता था। सचमुच ही कोई दर्द हो तो कम हो ! दिखावटी और बनावटी दर्द का क्या कम हो ?

आखिर जिस व्यक्ति के साथ योजना बनाई गई थी, वह सेठ के घर के पास से यह आवाज़ लगाता हुआ निकला कि 'सिर-दर्द की अचूक दवा !', 'सिर-दर्द का तत्काल इलाज !' आदि-आदि। तुरन्त उसकी बुलावट हुई। उसने तथाकथित रोगी को देखा और बोला, "यह दर्द जिस बात का है, उसके लिए तो एक ही इलाज है। वह है तो अचूक, लेकिन खरचीला बहुत है।"

सेठ ने कहा, "खरचे की तुम चिंता मत करो। बहू किसी भी तरह ठीक होनी चाहिए।"

वह आदमी बोला, "गज-मुक्ताओं को पीसकर उनका लेप इसके माथे पर किया जाय, तो दर्द तत्काल ठीक हो जायगा।"

सेठ खुश हो गया और बोला, "इसमें कौन बड़ी बात है ! अभी आपको एक मुट्ठी गज-मुक्ता ला देता हूं।"

ऐसा कहकर वह तुरन्त एक मुट्ठी गज-मुक्ता ले आया और खरल में पीसने के लिए डाल दिया। मूसली चलने ही वाली थी कि सेठ की पुत्रवधू ने आकर सेठ के पांवों पर अपना सिर रख दिया और सारी हकीकत भी कही।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस बीच वैद्य बना हुआ आदमी वहां से खिसक चुका था। पुत्रवधू ने अपने ससुर से क्षमा-याचना की। उसे विश्वास हो गया कि घर के लोग कंजूस नहीं, हैं बल्कि मितव्ययी हैं, जो होना जरूरी है। 'कंजूसी बुरी, मितव्ययिता अच्छी,' 'फिजूलखरची बुरी,

उदारता अच्छी।'

एक दूसरी घटना भी इसी सेठ के यहां की दी जाती है। एक वार इस सेठ ने अपने लड़के को दो रुपये का घी वाजार से खरीद कर लाने के लिए भेजा। लड़का घी खरीद कर वापस आ रहा था तो रास्ते में थोड़ा-सा घी ढुल गया।

जव सेठ ने घी देखा तो पूछा कि यह कम कैसे मालूम पड़ता है ? तो लड़के ने घी के ढुलने की वात कही। सेठ ने कहा, "ढुला ही है न ? दुकानदार के यहां से तो पूरा लाये थे न ? अगर ढुला ही है, तव तो खास कोई वात नहीं, आगे से सावधानी वरतना ! सावधानी वरतोगे तो इस तरह 'उजाड़'[1] नहीं होगा, लेकिन अगर ठगाने की आदत पड़ जायगी तो वह जीवन-भर ठीक नहीं होगी। इसलिए कभी किसीको ठगाना मत। टगना तो खैर, वहुत वुरा है ही, लेकिन ठगाना भी अच्छा नहीं है।"

१६ 'पाप मूल अभिमान'

एक वनिया था। अपना 'तेलालूणी'[2] का धंधा करके गुजर-वसर किया करता और वचा हुआ समय साधु-संतों की सेवा में विताता था। साधुओं को भोजन कराने के लिए तो उसके पास कुछ था नहीं, लेकिन धूणी जगा देना, पानी भरकर ला देना, थके-मांदे होने पर उनके हाथ-पांव दवा देना आदि सेवाएं वह भक्तिपूर्वक किया करता था।

एक वार की वात है कि एक सिद्ध महात्मा का उस गांव में आगमन हो गया। उस वनिये ने अपने स्वभाव के अनुसार उनकी भी अच्छी सेवा की। महात्माजी ने प्रसन्न होकर उससे कहा, "कुछ इच्छा हो तो कहो। तुम्हारी जो इच्छा होगी, उसीको पूरी कर दूंगा।"

१. नुकसान। २. छोटी दुकानदारी।

वनिये ने कहा, "अंधे को कोई मांगने को कहे तो वह दो आंखें छोड़कर और क्या मांगेगा ? वनिया होने के कारण मेरे मन में धन की वहुत लालसा है। जव आपकी कृपा हो ही गई है तो मुझे वहुत वड़ा धनी वना दीजिए !"

महात्मा वोले, "तथास्तु !"

वनिया तो निहाल हो गया। महात्माजी का आशीर्वाद लेकर वह अपने टूटे-फूटे मकान में आया और जव उसने भीतर का 'ठांव' खोला, तो यह देखकर उसके आश्चर्य और प्रसन्नता का ठिकाना न रहा कि वहां पर आंखों को चकाचौंध करनेवाले ढेर सारे हीरे-जवाहरात पड़े हैं। उसने अपनी पत्नी को वुलाया और सारी सम्पत्ति दिखाई। वह तो देखकर अत्यन्त आश्चर्यान्वित हो गई कि आखिर इतना सारा धन आ कहां से गया ! उसकी कल्पना में भी यह वात नहीं आई कि इतनी वड़ी सम्पत्ति अनायास ही किसीके पास आ भी सकती है। उसे अपनी आंखों पर विश्वास नहीं हुआ। ऐसा लगा, जैसे वह स्वप्न देख रही हो। उसे चेत ही नहीं रहा, तन्द्रित अवस्था हो गई उसकी। तव वनिये ने अपनी स्त्री को झकझोरा और साधु से मिले हुए वरदान की वात कही।

फिर दोनों ने मिलकर वहुत देर तक इस बात की सलाह की कि अपने को अव आगे क्या करना चाहिए। फैसला यह रहा कि अपने को अब इस गांव में और नहीं रहना चाहिए, क्योंकि अपने पास धन हो भी गया तो यहां के लोगों के लिए तो वड़े आदमी बनने से रहे, क्योंकि यहां तो सब लोगों की जवान पर वर्षों-वर्षों से अपन लोगों के लिए 'तू-तू' का नाम चढ़ा हुआ है, और वह पुरानी आदत जल्दी ही बदलनेवाली नहीं। अतः चुपचाप किसी ऐसे बड़े शहर में चले चलना चाहिए, जहां अपने को कोई पहचानता न हो। वहां जाकर खासा वड़ा व्यापार शुरू करेंगे और रहने के लिए अच्छी वड़ी हवेली-कोठी वनवा लेंगे। सैर-सपाटे के लिए, आमोद-प्रमोद के लिए, वाग-वगीचे भी लगवा लेंगे और साथ ही दान-धर्म भी अच्छा करेंगे, तो वहां अपने को इज्जत बनाते तथा सेठ कहलाते देर नहीं लगेगी। एक ही दिन में वह वनिया अपने पुराने दिन तो भूल ही गया। रातों-रात सारा माल लेकर पत्नी-सहित वह बनिया, जो कि अब सेठ हो चुका था, एक बड़े शहर को

रवाना हो गया।

शहर पहुंचते ही राजा को कहलवाया कि एक बहुत बड़ा धनी आदमी दूसरी जगह से उठकर आपके यहां बसने को आया है। राजा की अनुमति पाकर वह दरबार में गया। वहां पहुंचते ही उसने काफी बड़ी रकम राजा को नज़र की। राजा को विश्वास हो गया कि आदमी है तो धनी और साथ ही दिलवाला भी, इसलिए राजा ने उसकी अच्छी आवभगत कर दी। एक तरफ तो उसकी राजा से जान-पहचान हो गई, राज में मान-मर्तबा हासिल हो गया और दूसरी तरफ उसने वहां पर रहने के लिए खूब बड़ी-सी हवेली बनवा ली और बाग-बगीचे लगवा लिये। साथ ही खासी बड़ी दुकान करके कई तरह का व्यापार भी शुरू कर दिया। इसके अलावा मन्दिरों और ब्राह्मणों में भी खूब रुपये बांटे और आएदिन ब्राह्मण-भोजन तथा 'गोठ-घूघरी'[1] कराने लगा।

नतीजा यह हुआ कि थोड़े ही दिनों में उस शहर में वह बनिया अच्छा सेठ माना जाने लगा तथा उसने अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली। अब तो उसका मन यह मानने को भी तैयार नहीं रहा कि किसी दिन वह गरीब स्थिति में भी था। अपने चारों ओर तारीफ-ही-तारीफ सुनते-सुनते बहुत ही घमण्ड हो गया उसे।

दूसरी ओर जिस साधु ने उसे वरदान दिया था, उसने सोचा, ज़रा चलकर देखना चाहिए कि उस बनिये की वृत्ति अब कैसी है। वह कैसे रह रहा है—उसका साधु-सेवा का क्रम अबाध रूप से चलता है कि नहीं!

यह सोचकर साधु उस सेठ की हवेली पर गया। हवेली पर बैठे हुए पहरेदारों ने उसे दरवाजे पर ही रोक लिया और पूछा कि उसे क्या चाहिए? साधु ने कहा, "मुझे चाहिए-वाहिए कुछ नहीं, केवल तुम्हारे सेठ से मिलना है।"

नौकरों ने उत्तर दिया, "तुम्हारे-जैसे छप्पनसौ साठ भिखमंगे दिन में यहां आते हैं, यों सेठ किस-किससे मिलता फिरे?"

साधु ने कहा, "तुम जाकर सेठ को ज़रा मेरा नाम तो बता दो कि

१. भाई-बन्धुओं तथा इष्ट-मित्रों को भोजन।

अमुक साधु मिलने आया है, फिर तुम देखोगे कि सेठ स्वयं भागा-भागा मुझे लेने आयेगा।"

फाटक पर बैठे हुए नौकर-चाकर ठहाका मारकर हँसे और बोले, "क्यों वाहियात बातें करते हो ? कुछ चाहिए तो बताओ। खाने-पीने के लिए 'चून-पानी'[१] का इन्तजाम तो सेठ से बिना पूछे हम लोग ही कर देंगे।"

साधु बोला, "तुम मेरे कहने से एक बार जाओ तो सही ! सेठ इन्कार कर देगा, तो मैं तुरन्त यहां से वापस चला जाऊंगा।"

साधु पर दया करके उनमें से एक आदमी सेठ के पास गया और कहा, "फलां साधू आया है और आपसे मिलने का आग्रह करता है।"

सेठ सुनकर सन्न रह गया। उसने सोचा, यह तो बहुत बुरा हुआ। उसे इस बात भय लगा कि यदि यह साधु यहां के लोगों को अपनी पुरानी स्थिति बता देगा, तो सारी जमी-जमाई इज्जत धूल में मिल जायगी। इसलिए इस साधू की बहुत दुर्दशा करके गांव के बाहर निकलवाना चाहिए, जिससे यह भविष्य में यहां आने का नाम भी न ले। सेठ अपने धन के घमण्ड में यह बात भूल ही गया कि जिस प्रतापी और करामाती साधु ने उसे पुरानी स्थिति से आज की इस स्थिति में पहुंचाया है, वह विपत्ति में भी तो डाल सकता है।

सेठ ने आये हुए नौकर से कहा, "मैं इस आदमी को जानता हूं। यह बहुत बड़ा ठग है, धूर्त्त और मक्कार है तथा दुराचारी और बदमाश भी है। साधु का वेश बनाये हुए लोगों को ठगता फिरता है। तुम सारे जने मिल कर इसे धक्के देकर निकाल दो और शहर के बाहर खदेड़ आओ। ऐसी दुर्गति करो इसकी कि यह आगे कभी इस शहर में आने का नाम भी न ले।" सेठ ने सोचा, अपने पास अब इतना धन हो गया है कि दोनों हाथों से फेंकें तो भी अपनी जिन्दगी-भर खूटे नहीं, तो फिर अब अपने को डर भी किस बात का रह गया है ! यह साधु अपना बिगाड़ ही क्या सकता है !

नौकरों को तो सेठ की आज्ञा का पालन करना ही था। सबने मिलकर बुरी दुर्गति की उस साधु की और धक्के देकर उसे निकाल दिया शहर के

१. आटा-दाल आदि।

बाहर।

साधु ने 'कोमल चित दीनन पर दाया' वाले अपने स्वभाव के अनुसार सोचा, 'ऐसा को जन्मा जग माहीं। प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं' और यह भी सोचा, 'श्रीमद् वक्र न कीन केहि, प्रभुता वधिर न काहि'। सेठ के स्वभाव में फरक आना अस्वाभाविक नहीं है; लेकिन यह घमण्ड उसे ले डूबने वाला है। चूंकि इसने किसी दिन अपनी सेवा की थी, अत: अपने को इसका उपकार करना चाहिए और वह उपकार इसका घमण्ड दूर करके ही किया जा सकता है।

यह सोचकर साधु ने हूबहू सेठ का रूप बनाया और जब सेठ शौच के लिए जंगल गया तो वह आकर सेठ की हवेली में बैठ गया। नौकर-चाकरों ने पूछा कि आज आप इतनी जल्दी कैसे आ गये, तो सेठ बने हुए उस साधु ने कहा, "इस शहर में एक बहुरूपिया आया है। ठीक मेरे-जैसा ही रूप बनाये हुए है और मेरे-जैसे ही कपड़े पहने हुए है। मेरी-जैसी ही बोली भी बोलता है। देखकर एक बार तो तुम भी ठिठक जाओगे कि असली सेठ वह है कि मैं हूं। वह बहुरूपिया अब यहां पहुंचने ही वाला है, इसलिए मैं तुम्हें पहले ही सावधान कर देता हूं कि उसे हवेली में मत घुसने देना। पूरी सावधानी बरतना। ऐसा न हो कि वह जबर्दस्ती घर में घुस आवे। तुम लोग हवेली के सारे मोरी-दरवाजे बन्द कर लो और बाहर लाठियां लेकर तैयार खड़े हो जाओ। आते ही उस पर बरस पड़ना। वह तुम्हें कहेगा कि मैं तुम्हारा मालिक हूं, तुम मेरे नौकर हो, आदि-आदि, लेकिन तुम उसकी एक न सुनना!"

सारे नौकरों ने एक स्वर से कहा, "सेठ साहब, जब आपने इतनी सावधानी दिला दी है तो अब ठगायेंगे थोड़े ही, धोखे में थोड़े ही आयेंगे!"

काफी बड़ी संख्या में नौकर दरवाजे के बाहर लाठियां ले-लेकर खड़े हो गये और उस असली सेठ के आते ही गाली-गलौज करना और उसे मारना-पीटना शुरू कर दिया। सेठ स्तम्भित रह गया कि यह क्या हो गया। वह बहुत चीखा-चिल्लाया, पर नौकरों ने उसकी एक न सुनी और उसे धक्के देकर वहां से खदेड़ दिया।

सेठ शहर के बाहर जाकर उदास एक गाछ (पेड़) के नीचे बैठ गया

और यह सोचकर निराश हो गया कि अब कुछ होने का नहीं। संपत्ति गई, कारबार गया, स्त्री-पुत्र आदि से विलग हो जाना पड़ा। पहले जो स्थिति थी, वह भी आज तो नहीं रही। कोई नामलेवा-पानीदेवा ही नहीं रह गया है। लेकिन अपने अभिमान का यही फल होना था—'पाप मूल अभिमान।' उसे समुद्र की वह कथा याद आ गई जब समुद्र ने अपनी महानता पर अभिमान किया था तो भगवान ने उसका जल इतना खारा कर डाला था कि प्यासा होने पर भी कोई प्राणी उसके पास अपनी प्यास बुझाने के लिए जाने का नाम नहीं लेता था—'गरब कर्‌यो रतनाकर सागर, जल खारो कर डार्‌यो, गरब नहीं करना जी।' जिस महात्मा ने अपने को एक अत्यन्त साधारण स्थिति से उठाकर इतने बड़े प्रतिष्ठित सेठ की स्थिति पर ला बैठाया था, उसका गुण न मानकर उसका अपमान किया, तो उस पाप का प्रतिफल और क्या होगा! कृतघ्नता से बढ़कर कोई पाप नहीं; जो हुआ, सो ठीक ही हुआ। 'अब पछताये होत का जब चिड़ियां चुग गईं खेत।' 'हाथ कमाया कामड़ा दई न दीजै दोष।'

सेठ यह सोच ही रहा था कि वह साधु उसके पास आ पहुंचा और बोला, "कहो, कैसी रही?"

बनिये ने साधु के चरणों पर माथा टेक दिया और अपने पापों के लिए बहुत-बहुत क्षमा-याचना की। साधु ने उसे फिर से उसके घर में प्रविष्ट करवाया और समझाया कि अबतक तो तेरे पास धन नहीं था, माया थी। 'माया महाठगिनी मैं जानी'। धन से अभिमान हो तो वह धन किस काम का! धन से तो नम्रता आनी चाहिए। वृक्ष फलों से जितना लदा हुआ होता है उतना ही वह नीचे झुकता है। भविष्य में सारी सम्पत्ति को ईश्वरार्पण मानकर उसका 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा:' के अनुसार उपभोग कर!

सेठ को ज्ञान प्राप्त हो गया। उसकी मोह-निशा नष्ट होकर उसके अन्तर्चक्षु खुल गये। साधु ने पहली बार उसे सम्पत्ति दी, इस बार सन्मति दी और धन के उपभोग व जीवन जीने की सच्ची कला बताई। सेठ ने वैसा ही करते हुए अपनी जिन्दगी के शेष दिन आनन्दपूर्वक बिताये।

१७ ||||| 'कहिये बचन बिचारि'

एक साधु भिक्षाटन के लिए निकला हुआ था। आरम्भ में ही वह जिस घर में गया, वहां एक विधवा स्त्री अपने रोते हुए, पछाड़ें खाते हुए, बच्चे को चुप कराने का प्रयत्न कर रही थी। इकलौता लड़का होने के कारण वह बहुत लाड़-प्यार में पला था, अतः बिगड़े स्वभाव का था। राजस्थानी भाषा में कहें तो वह 'ईतराया' हुआ था। मां ने उसे चुप कराने का बहुत प्रयत्न किया, बहुत समझाया, दुलारा, पुचकारा और तरह-तरह के लोभ भी दिखाये, जैसे मिठाई और खिलौने खरीद देने और बँदरिया का नाच और भांड का स्वांग दिखाने आदि के, लेकिन वह तो किसी तरह चुप होने का नाम ही नहीं लेता था।

इतने में उस साधु को आता हुआ देखकर बच्चे की मां बोली, "देख, वह साधु महाराज आ रहे हैं। अगर तूने रोना बन्द न किया तो वह तेरा कान काट लेंगे।"

लेकिन बच्चा तो फिर भी चुप नहीं हुआ और साधु महाराज वहां आ पहुंचे। लड़के की मां ने अपने लाड़ले बेटे को सुनाते हुए उसे डराने के लिए साधु से कहा, "देखो महाराज, यह बच्चा कितना ढीठ है कि किसी तरह चुप ही नहीं होता। घण्टों से रोता ही जा रहा है। रोते-रोते इसको हिचकियां आने लगी हैं, घिग्घी बंध गई है और सांस भी फूल गई है। इसका कान काट लीजिये, तभी यह चुप होगा।"

साधु ने न भला सोचा, न बुरा, तत्काल उस बच्चे का कान काट ही तो लिया! वह बच्चा, जो अबतक केवल अपने हठी स्वभाव के कारण रो रहा था, अब सचमुच पीड़ा के मारे दहाड़ें मार-मारकर रोने लगा और बुरी तरह कराहता हुआ अपनी मां से चिपट गया। कटी हुई जगह से बुरी तरह खून बहने लगा।

मां भी रोने-बिलखने लगी और उस साधु को बुरा-भला कहने लगी। बुरी तरह गालियां देने लगी उसे। रोते-रोते ही बोली, "तुम साधु नहीं हो, साधु के वेश में निर्दयी कसाई हो। कसाई भी इतना क्रूर और जघन्य काम नहीं कर सकता।"

साधु ने भोला वनते हुए कहा, "मां, मुझे अव दोष क्यों देती हो ? मैंने तो जो कुछ किया है, तुम्हारे कहने के अनुसार ही किया है।"

इस पर उस दुखिया औरत ने कहा, "भलेमानस, तुम्हारी बुद्धि तो नहीं मारी गई ! भला कोई मां भी अपने कोमल और मासूम वच्चे के कान काटने को कहा करती है ! मैंने तो उसे डराने के लिए योंही ऊपर-ऊपर से कह दिया था, भीतर के मन से थोड़े ही कहा था।"

साधु ने कहा, "माई, मुझे क्या मालूम, किसी के दो मन भी हुआ करते हैं। हम साधुओं के तो एक ही मन होता है । आगे से खयाल रखूंगा।"

ऐसा कहकर वह तो नौ-दो-ग्यारह हो गया और बेचारी विधवा अपनी तकदीर को रोती हुई और अपनी जीभ को गाली देती हुई वच्चे की मर-हम-पट्टी में लग गई। समय के अनुसार घाव तो भरना ही था, लेकिन एक कान चले जाने के कारण उस लड़के को लोग 'वूचा-वूचा' कहने लगे।

घटना को हुए दो बरस वीते होंगे कि उस स्त्री के घर में आग लग गई और देखते-देखते वह आग सारे सामान को निगलने लगी। इतने में संयोगवश उसी साधु का फिर वहां आना हो गया। साधु को देखते ही उस स्त्री ने जोर से चिल्लाकर कहा, "खड़े क्या देख रहे हो ! घर में आग लगी हुई है, सव-कुछ भस्म हुआ जा रहा है। जल्दी पानी डालकर इसे वुझाते क्यों नहीं ?"

लेकिन साधु महाराज तो अविचल भाव से खड़े-के-खड़े ही रहे। थोड़ी ही देर में सवकुछ जलकर स्वाहा हो गया, तो उस स्त्री ने कहा, "ईश्वर ने तो तुम्हें साढ़े तीन हाथ की हट्टी-कट्टी काया दी है, इस काया के भीतर हृदय है कि पत्थर ? तुम्हारे देखते-देखते सव-कुछ स्वाहा हो गया और तुमसे इतना भी नहीं वन पड़ा कि इसमें एक लोटा पानी या एक मुट्ठी रेत भी डाल देते !"

साधु ने कहा, "मां, पिछली वार मैंने तुम्हारे कहने के अनुसार काम किया था तो तुम नाराज हुई थीं। इस बार तुम्हारे कहने के अनुसार नहीं किया, यह सोचा कि तुम ऊपर के मन से कहती हो, तो तुम नाराज होती हो ! सचमुच ही तुम गृहस्थ लोगों की भाषा हम साधुओं की समझ में नहीं

आती। गृहस्थों की भाषा तो गृहस्थ ही समझ सकता है—"खग जाने खग ही की भाखा।"

इतना कहकर साधु तो यह गया, वह गया और ऐसा गया कि लौटने का नाम ही नहीं लिया। विधवा वेचारी सिर पीटती हुई, अपने भाग्य को कोसती हुई, वैठी-की-वैठी रह गई।

मनुष्य को चाहिए कि ऐसा वचन कभी नहीं वोले, जिसके लिए उसे वाद में पश्चात्ताप करना पड़े—'कहिये वचन विचारि।' यह भी चाहिए कि केवल किसी के कहे हुए शब्द को ही न पकड़ ले, वल्कि कहने वाले की मंशा और भावना समझे तथा अपनी वुद्धि से भी काम ले—'करिये मति अनुहारि।' तथ्यातथ्य समझकर व्यावहारिक वुद्धि से ही काम लेना चाहिए।

१८ ||||| बड़े मुल्ला की आंखें खुलीं

एक स्त्री सायंकाल के समय अभिसार के लिए निकली। वह प्रेम-दीवानी इतनी मस्त हो रही थी कि उसके पांव सीधे नहीं पड़ रहे थे और न उसे अपना-पराया ही कुछ सूझ रहा था। रास्ते में मसजिद के वड़े मौलवी साहव अपना मुसल्ला विछाये हुए उस पर नमाज पढ़ रहे थे। स्त्री तो प्रेम में पड़ी हुई चली जा रही थी, इसलिए उसे कुछ सूझ नहीं पड़ा और वह मुसल्ले को रौंदती हुई अपने गन्तव्य स्थान की ओर निकल गई। मौलवीजी को गुस्सा तो वहुत आया, लेकिन वह उस समय कुछ वोले नहीं, क्योंकि वोलने से नमाज में खलल पड़ जाने का भय था।

नमाज पूरी हो गई, उसके वाद भी वह वहीं वैठे रहे और इस वात की प्रतीक्षा करने लगे कि वह स्त्री वापस आये तो उसे उलाहना दें, धमकावें और भविष्य के लिए नसीहत दें। कुछ देर वाद वह स्त्री वापस आई तो मौलवीजी ने कहा, "भलीमानस, तुम्हें दीखता नहीं, मैं खुदा की इवादत

कर रहा था और तुम इस तरह चप्पलें चटकाती हुई मेरे नमाज के लिए विछाये हुए मुसल्ले को रौंदती हुईं, नापाक करके, आगे वढ़ गईं! तुम्हारी आंखें फूटी हुई तो नहीं हैं? आगे से ज़रा देखकर चला करो। सावधानी रखनी चाहिए।"

स्त्री ठहाका मारकर हँसी और बोली, "मौलवी साहव, खता माफ हो, लेकिन मैं आपसे एक वात पूछना चाहती हूं कि अगर आप खुदा की इवादत कर रहे थे तो आपको यह सूझ कैसे पड़ा कि कौन आया था और कौन गया? यह तो इवादत नहीं, हिमाकत है। इवादत करने वाला तो उसे कहते हैं, जिसके लिए यह कहा जा सके कि 'तन की कछु न सम्हार।' साफ ही मालूम होता है कि आप केवल लोक-दिखावे के लिए ही नमाज़ पढ़ते हैं, खुदा को रिझाने के लिए नहीं। आपका मन तो संसार में और सांसारिक झगड़ों में ही फंसा रहता है, वरना मैं, जो कि किसी एक आदमी के प्रेम में रंगी हुई थी, उसे ही सूझ नहीं पड़ा, तो आप जो खुदा की इवादत की वात करते हैं, उसे मेरे जाने की वात कैसे सूझ पडी?"

स्त्री ने आगे फिर कहा, "पढ़ कुरान वौरा भये, नहिं राच्यो रहमान; नर राची सूझ्यो नहीं, तुम कस लख्यो सुजान?" "माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माहिं; मनुआं तो चहुं दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाहिं।" "मनका फेरत जुग गया, गया न मन का फेर; कर का मनका छांड़ि दे, मन का मनका फेर।"

मौलवीजी की आंखें खुल गईं। गये थे नसीहत दूसरों को देने और मिल गई नसीहत खुद को!

१९ ||||| 'सेवा बिन बिद्या नहीं'

एक सिद्ध पुरुष था। वह अधिकतर जंगल में ही रमता। कन्द-मूल-फल खाकर भगवान का भजन किया करता। उसे पानी से दूध और पीतल

से सोना वनाने की विद्या आती थी, लेकिन उसने उस विद्या का अपने सुख के लिए कभी उपयोग नहीं किया था। दीन-दुखियों के लिए समय-समय पर अवश्य थोड़ा-वहुत उपयोग कर लेता था। वह कभी-कभी नगर में भी आ जाता था, लेकिन वहुत कम।

एक दिन जव वह फकीर नगर में आया हुआ था, तो एक वहुत ही दीन-दरिद्री ब्राह्मण उसके पास आया और विनीत स्वर में वोला, "मैं वहुत दु:खी हूं। मेरे एक लड़की है, वह उम्र में काफी हो गई है, लेकिन मैं अवतक उसका विवाह नहीं कर सका हूं। मैं तो दो जून का खाना ही वड़ी मुश्किल से जुटा पाता हूं, तो विवाह कैसे हो ? मैं देखता हूं कि आप स्वयं भिक्षाटन करके खाते हैं, किसी प्रकार का परिग्रह भी नहीं करते। अत: आपसे आर्थिक सहायता की आशा तो मैं नहीं करता, पर आपके चेहरे का तेज देखकर मुझे विश्वास होता है कि आप मुझे कोई युक्ति अवश्य वता देंगे।"

फकीर को विश्वास हो गया कि आदमी है तो सुपात्र, इसलिए उसने उस ब्राह्मण से कहा, "तुम सायंकाल मेरे पास आ जाना। मैं तुम्हें युक्ति क्या वताऊं, तुम्हारे लिए पूरी व्यवस्था ही कर दूंगा।"

ब्राह्मण अपने घर चला गया और इधर फकीर वावा नगर के वाहर जाकर अपने एक पीतल के लोटे को सोने का बनाकर ले आया।

सायंकाल जव वह ब्राह्मण उसके पास आया, तो उसे वह लोटा देते हुए कहा, "जा, इसे वेचकर अपनी कन्या का विवाह कोई सुपात्र वर देख-कर अच्छी तरह कर दे।"

ब्राह्मण तो कृतकृत्य हो गया।

जव वह लोटा लेकर बाज़ार में वेचने निकला, तो एक दुकानदार ने उसे पकड़ लिया और वोला, "यह सोने का लोटा तुम्हारे पास कहां से आया ? ज़रूर यह राजा का होगा। तुम या तो इसे चोरी करके लाये हो या तुमने किसी चोर से खरीदा है।" ऐसा कहकर वह उसे राजा के पास ले गया।

राजा ने लोटा देखकर कहा, "यह लोटा मेरा तो नहीं है, लेकिन इस ब्राह्मण के पास कहां से आया ?"

ब्राह्मण से पूछने पर उसने डरकर सारी वात वता दी।

राजा ने ब्राह्मण को तो लोटे-सहित मुक्त कर दिया, पर उसके मन में लोभ समाया और उसने सोचा, "अपने को उस महात्मा से मिलना चाहिए। हो-न-हो, सिद्ध वावा के पास कोई चमत्कारी विद्या है। किसी तरह उस फकीर वावा से अपने को वह विद्या सीखनी चाहिए।"

राजा ने अपने आदमियों को भेजकर उस सिद्ध फकीर वावा का पता लगाकर दरवार में लाने को कहा। जव राजा का आदमी उस महात्मा के पास पहुंचा तो उन्होंने आने से इन्कार कर दिया। वे बोले, "मेरा राजा से क्या लेना-देना ? मैं क्यों किसीके यहां जाने लगा ?"

आदमी ने आकर सिद्ध महात्मा की कही हुई वात राजाजी को बता दी। राजा के ऊपर इस वात का गहरा प्रभाव पड़ा और उसको विश्वास हो गया कि यह महात्मा पहुंचा हुआ तो है ही, निस्पृह भी खूब है। यह सोचकर राजा स्वयं उसके पास गया।

राजा ने जाकर महात्मा को प्रणाम किया और बावा को ब्राह्मण और उसके स्वर्ण-लोटे की वात कही और साथ ही वड़े विनम्र शब्दों में वावा से वह विद्या सिखाने के लिए प्रार्थना की।

सिर्फ दीन-दुखियों के लिए उनकी सहायतार्थ अपनी विद्या का उपयोग करने वाला वह फकीर भला राजा को यह विद्या कव वताने वाला था ! अतः उसने राजा को विद्या सिखाने से इन्कार कर दिया।

राजा ने फकीर वावा की खुशामद की। उसे यह भी कहा, "देखो, यह विद्या तो राजा को ही शोभा दे सकती है, उसके ही काम आ सकती है। इस विद्या से सारे राज्य में खुशहाली छा जायगी और कोई भी दीन-दरिद्री नहीं रहेगा। फकीर लोगों के यह विद्या किस काम की !"

लेकिन फकीर जानता था कि राजा के पास जितना ही अर्थ होगा, उतना ही वह अनर्थकारी होगा, अतः वह उसे विद्या सिखाने को राजी नहीं हुआ।

अव तो राजा का सोया हुआ अहम् जागा और उसने फकीर से कहा, "ऐ फकीर, राजा के सामने तेरी 'ना-नक्कड़' नहीं चलेगी। राज़ी-राज़ी वता दे तो अच्छी वात, वरना व्यर्थ में तुझे अपनी जान से हाथ

धोना पड़ेगा।"

फकीर तो आखिर पहुंचा हुआ फकीर था। उसे इस तरह डरा-धमका कर झुकाया थोड़े ही जा सकता था। उसने राजा से कहा, "तेरी इच्छा हो सो कर, मैं विद्या सिखाने से रहा।"

फकीर की यह वात सुनकर राजा को वहुत क्रोध आया और उसने चाहा कि उस फकीर को उसी वक्त जमीन में जिन्दा गड़वा दे, लेकिन स्वर्ण वनाने की विद्या सीखने का लोभ अव भी उसके मन में था, इसलिए उसने ऐसा नहीं किया। फिर वह फकीर से बोला, "आज से पन्द्रह दिन के भीतर-भीतर या तो तुम मुझे यह विद्या सिखा दो, नहीं तो पन्द्रहवें दिन तुम्हें फांसी दे दी जायगी।"

फकीर के पास तो अव भी वही जवाव था।

राजा बड़े असमंजस में पड़ गया और तय नहीं कर सका कि अव उसे क्या करना चाहिए। उसे तो किसी तरह से विद्या सीखनी थी। फकीर को मारने से तो विद्या आने से रही। अतः वह रोज़ एक आदमी उस फकीर को समझाने के लिए भेजने लगा, लेकिन फकीर के पास तो वही रटा-रटाया जवाव था।

इस तरह जब सात दिन बीत गये तो राजा को विश्वास हो गया कि यों काम वनने वाला नहीं है। अतः दूसरी युक्ति सोची और उसके अनुसार वह वेश बदलकर फकीर के पास गया और शिष्य के रूप में उनकी तन-मन से सेवा करने लगा। ऐसा करते-करते एक सप्ताह वीत गया।

राजा की सेवा से फकीर प्रसन्न हुआ और उसने सोचा—कल तो अपने को मरना ही है, चलो, अपनी विद्या इस शिष्य को सिखा दें।

उन्होंने वेश वदले हुए राजा को वुलाकर कहा, "देख, मैं तो कल मरने वाला हूं, लेकिन मरने से पहले तुझे एक विद्या सिखा देना चाहता हूं। किन्तु मुझे वचन दे कि तू इस विद्या का उपयोग कभी अपने स्वार्थ के लिए नहीं करेगा।"

छद्मवेशी राजा ने वचन दे दिया और फकीर वावा ने उसे अपनी करामाती विद्या सिखा दी।

राजा अपने महल में लौट आया।

दूसरे दिन राजा का आदमी फकीर के पास गया और बोला, "राजा-जी के हुक्म के अनुसार आज तुम्हें फांसी दी जायेगी।"

फकीर ने कहा, "मैं तो इसके लिए तैयार ही बैठा हूं।"

राजाजी के आदमी ने वापस आकर सारी हकीकत राजाजी से बयान कर दी। तब राजा स्वयं आया, लेकिन फकीर ने उसे पहचाना नहीं कि कभी इसने मुझसे शिष्य बनकर विद्या सीखी थी।

राजा ने कहा, "क्यों फकीर, बोल! विद्या सिखाना मंजूर करता हो तो तेरे प्राण अब भी बच सकते हैं, नहीं तो आज तुझे फांसी लगने वाली है। तैयार हो जा!"

फकीर के पास तो वही उत्तर तैयार था।

राजा गर्वीली मुस्कान के साथ बोला, "तुम्हारी विद्या तो मैं सीख चुका हूं।" ऐसा कहकर उसने पीतल के एक पात्र को सोने का बनाकर दिखा दिया।

फकीर हँसा और बोला, "राजा, तुमने यह विद्या किसीको डरा-धमकाकर नहीं सीखी है। किसी-न-किसी की सेवा-चाकरी करके ही सीखी होगी। ऐसी विद्या डराने-धमकाने से नहीं सीखी जा सकती, यह तो सेवा से ही सीखी जा सकती है।"

राजा ने फकीर के चरणों पर सिर रख दिया।

२० ‘पुनर्मूषको भव !’

एक मछुआ था, जिसका झोंपड़ा एक बड़ी-सी नदी से कुछ ही दूर पर था। मछुआ दिन-भर उस नदी में मछलियां पकड़ता और उन्हें बेचकर गुज़र-बसर किया करता। उसे मछलियां बेचने से इतनी ही आय होती थी कि किसी तरह अपने परिवार का पेट भर सके।

मछुआ गरीब तो था, लेकिन था संतोषी वृत्ति का। इसलिए उसके

मन में अपनी गरीवी के प्रति कोई गिला या शिकायत नहीं थी, लेकिन मछुआइन को अपनी इस गरीवी की हालत से कतई संतोष नहीं था। वह जव अपने झोंपड़े से थोड़ी ही दूर पर एक वड़ी-सी हवेली को खड़ी देखती, तो उसका मन हाहाकार कर उठता, चीत्कार कर उठता।

सायंकाल के समय जव वह हवेली के मालिक को दो घोड़ों की वग्घी पर अपनी पत्नी और वच्चों के साथ वैठकर सैर करने को जाते देखती, तो वह और भी अधीर हो उठती और अपने पति की लाचारी की वात जानते हुए भी खीझकर उसे कहा करती, "विधाता ने मुझे कैसे निखट्टू के पल्ले वांध दिया है, जिसके कारण घर में किसी तरह का भी सुख नहीं है ! वच्चे फटेहाल गलियों में भटकते रहते हैं तथा खाने के लिए ज्वार-वाजरे की रोटी के अलावा कभी कुछ नहीं मिलता।"

वह यह भी कहा करती, "अपने से सौ गज पर ही उस सेठ की हवेली को भी ज़रा देखो। कैसा ठाठ-वाट है वहां का ! उसकी पत्नी जेवरों से लदी रहती है और वच्चे कीमखाव के कपड़े पहने चहकते फिरते हैं—और एक तुम हो कि जिसके कारण सोने-चांदी की तो वात ही क्या, आजतक गिलिट की कड़ी भी नहीं पहन सकी हूं !"

मछुआ अपनी पत्नी की नादानी की वातों की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया करता था, केवल चुपचाप सुनता रहता। कभी अपनी पत्नी को समझाने की कोशिश करता तो वह और भी उवल पड़ती, पूरा-पूरा चंडी का रूप धारण कर लेती। मछुआ ऐंसी हालत में चुपचाप वहां से 'सटक' जाता।

एक दिन की वात कि इन्द्र की एक परी रात्रि के समय आकाश में विचर रही थी। धरती पर उस दिन शरद्-पूर्णिमा की चांदनी छिटकी हुई थी और उस चांदनी रात में नदी के तट का दृश्य वहुत ही मनोरम लग रहा था। नदी का पानी स्वच्छ दर्पण-सा झिलमिला रहा था। सहसा ही उस इन्द्र-परी का मन नदी के शीतल जल में किलोल करने को मचल उठा।

वह धरती पर आई और मछली का रूप धरकर पानी में तैरने लगी। शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु के साथ हिलोरें लेता हुआ पानी उसे इतना प्रिय

लगा कि वह पानी में तैरती ही रही। समय काफी हो गया था, लेकिन उसका मन अब भी भरा नहीं था। धरती के इस सुख के सामने नन्दन-कानन में जुड़ी हुई इन्द्र-सभा में होनेवाले नृत्य-वाद्य का सुख भी उसे फीका लगा। वह तो उस नदी में किलोल करती रही। समय की उसे सुधि ही नहीं रही और योंही सारी रात बीत गई। उसे पता नहीं था कि दुर्भाग्य उसके सामने मुंह बाये खड़ा है।

मछुए का फैलाया हुआ जाल उस नदी में पड़ा था। तैरते-तैरते वह मछली-रूपी परी भी दूसरी मछलियों के साथ उसमें फंस गई। अब तो उसके लिए मुश्किल हो गई। वह यह सोच ही नहीं पाई कि उसका छुट-कारा कैसे हो और वह इन्द्र के पास कैसे पहुंचे। तड़प उठी बुरी तरह से वह तो।

सवेरा होने पर मछुआ नदी-तट पर आया और मछलियों-समेत अपने जाल को उठाकर घर ले गया।

उसकी पत्नी ने पकाने के लिए तीन-चार मछलियों को जाल से बाहर निकाला, जिनमें संयोग से एक वह इन्द्र की परी भी थी। मछुए की पत्नी ने ज्यों ही उबलते हुए तेल में डालने के लिए उस मछली को उठाया तो उसने कहा, "मछुआइन, मुझे वापस पानी में छोड़ दे, मैं मछली नहीं हूं।"

मछली की बात सुनकर मछुआ और उसकी पत्नी, दोनों को बहुत ही आश्चर्य हुआ। एक मछली को मनुष्य की भाषा में बोलते देखकर उन्हें लगा कि यह कोई बड़ा चमत्कार है।

इतने में मछली ने फिर कहा, "हे मछुए, तुम क्या देख रहे हो, मैं मछली नहीं हूं, इन्द्र के अखाड़े से आई हुई एक परी हूं। दुर्भाग्यवश तुम्हारे जाल में फंस गई हूं।"

मछुए ने अपनी पत्नी से कहा, "छोड़ दे बेचारी को। इसके बदले मैं तुझे एक की जगह दो मछलियां और पकड़कर ला दूंगा।"

यह जानने के बाद कि यह मछली इन्द्र की परी है, मछुआइन का तो लोभ जाग्रत हो उठा। वह अपने पति की बात कब सुनने वाली थी! उसने अपने दिमाग को चलाना शुरू किया और इस नतीजे पर पहुंची कि आज इस परी से अपार धन प्राप्त करके अपनी स्थिति को बदलने का समय आ

गया है।

उसने अपने पति से कहा, "तुम तो हो पूरे 'गावदू'! अक्कल का एक दाना तुममें नहीं है। तुम्हारे भरोसे तो मैंने इतने वरस रोते-कलपते और तरसते काट दिये। अव तुम चुपचाप बैठे रहो। मुझे अपनी बुद्धि से काम करने दो।"

मछुआ अपनी पत्नी के कलहकारी स्वभाव के कारण उससे वहुत डरता था, अतः कुछ वोला नहीं।

मछुआइन ने उस मछली वनी हुई परी से कहा, "तुम अपने लिए मुक्ति चाहती हो तो यह वताओ कि मेरे लिए तुम क्या करने को तैयार हो?"

परी तो वेचारी संकट-ग्रस्त थी। एक तरह से मौत के मुंह में ही फंसी हुई थी, अतः उसने मछुआइन से कह दिया कि तुम चाहो, सो करने को मैं तैयार हूं।

तव मछुआइन वोली, "मेरे सामने ही सेठ की जो वड़ी-सी हवेली खड़ी है, उससे भी वड़ी और सुन्दर हवेली मेरे लिए वना दे तथा जितनी समृद्धि और ठाठ-वाट उसके यहां है—याने घोड़े, ऊंट, गाय, गहना, धन, वाग-वगीचे आदि—उससे भी अधिक माया मेरे यहां कर दे, तो मैं तुझे मुक्त कर सकती हूं।"

परी ने कहा, "तथास्तु!"

'तथास्तु' कहने की देर थी कि उस झोंपड़े की जगह एक ऊंचा-सा धवल प्रासाद खड़ा हो गया, जिसमें सव तरह की सुख-सामग्री तथा ठाठ-वाट थे। मछुआइन की छाती फूल गई, लेकिन मछुए को यह सव अच्छा नहीं लगा, क्योंकि वह अपने परिश्रम की कमाई ही खाना पसन्द करता था। फिर भी वेचारा कुछ वोला नहीं, क्योंकि अपनी पत्नी के कर्कश स्वभाव से वह भली भांति परिचित था।

इन्द्र की परी ने तव मछुआइन से पूछा, "अव मैं जा सकती हूं?"

उसने जवाव दिया, "तुम जा तो सकती हो, लेकिन जव भी मैं याद करूं, तुम्हें आना होगा।"

परी ने यह भी स्वीकार कर लिया। मछुआइन ने उसे मुक्त कर दिया और वह परी वनकर, पंख फड़फड़ाती हुई, सुखपूर्वक इन्द्रलोक में पहुंच गई।

दूसरे ही दिन से मछुआइन के ठाठ-बाट तो देखते ही बनते थे ।

एक दिन की बात कि मछुआइन अपने घर के दरवाजे पर बैठी थी। राजा की सवारी उधर से गुजर रही थी। सवारी के आगे-आगे जो चोब-दार चल रहा था उसने उस मछुआइन से कहा, "खड़ी हो जाओ ! तुम्हें दीखता नहीं, राजा की सवारी आ रही है !"

मछुआइन को खड़ा होना पड़ा। फिर घर में जाकर उसने सोचा, "इतने ठाठ-बाट होने पर भी अपन लोग राजा से तो छोटे ही रहे। पहले पता होता तो उस परी से हवेली-कोठी मांगने के बजाय राज्य ही मांग लेती। किन्तु खैर, अब भी क्या बिगडा है !"

यह सोचकर उसने इन्द्र की उस परी को याद किया। याद करते ही परी हाजिर हो गई ।

मछुआइन ने कहा, "हे परी, तूने मुझे इतना देकर भी राजा से छोटा ही रख दिया। मैं अपने गांव में किसी से छोटा बनकर नहीं रहना चाहती, इसलिए हम लोगों को राजा-रानी बना दे।"

मछुए ने बीच में टोकते हुए अपनी पत्नी से कहा, "मैं जानता हूं, तुम किसी की सुनोगी नहीं, लेकिन कहे बिना रहा भी नहीं जाता। तुम्हारे स्वभाव में इतना भी क्या लोभ आया कि एक साधारण मछुआइन से इतनी समृद्धिशाली बन जाने पर भी संतोष नहीं। यह अति का लोभ तुम्हें ले डूबने वाला है। 'अति राम बैर है'।"

मछुआइन ने पैर पटकते हुए और धमकाते हुए अपने पति से कहा, "तुम्हें बीच में बोलने की जरूरत नहीं। मैं जैसा चाहूंगी, करूंगी।"

पति-पत्नी के इस झगड़े में न पड़कर परी ने उस मछुआइन से कहा, "तथास्तु !"

दूसरे दिन ही मछुआइन को राज्य मिल गया। उसके बाद तो वह और भी गर्वोन्मत्त हो उठी। आदमी को आदमी ही नहीं गिनती थी। ज़रा-ज़रा-सी बात में दास-दासियों को चाबुक से पिटवा देना, कसूर या बेकसूर किसी भी प्रजा को जेल में डाल देना उसका नित्य का काम हो गया।

मछुआइन तो अपने भाग्य पर इठलाती फिरती थी, लेकिन राजा बन जाने के कारण मछुआ तो अपने भाग्य पर रोया करता था। यह अपने

पुराने दिनों की याद किया करता और यह मानता कि वह कैसी मनहूस घड़ी थी कि जब इन्द्र की परी मछली के रूप में उसके जाल में फंसी, और जिसका नतीजा यह हुआ कि अपने पसीने की कमाई करने से वंचित हो गए और मुफ्त का माल-मलीदा खाते हैं। उसे इस बात की भी ग्लानि थी कि उसकी पत्नी प्रजा पर नाना प्रकार के अत्याचार करती है।

कुछ वर्ष यों ही बीत गये। अब तक मछुआइन के पापों का घड़ा लबालब भर चुका था। अतः एक बार उस राज्य पर इन्द्र का कोप हुआ। वहां पर तीन वर्षों का भयंकर अकाल पड़ा। प्रजा त्राहि-त्राहि कर उठी और अन्त में उस राज्य में बगावत हो गई। प्रजा ने विद्रोह कर दिया और राजमहल को घेर लिया. राजा-रानी का विरोध करती हुई प्रजा नारे लगाने लगी, खासकर रानी के अत्याचार और अन्याय के कारण रोष में आकर उन्होंने राजमहल पर पत्थर फेंकना शुरू कर दिया।

रानी बनी हुई मछुआइन इस विद्रोह के कारण घबरा उठी। उसे कुछ उपाय नहीं सूझ पड़ा। आखिर उसने अपने विश्वस्त दरबारियों से पूछा, "इस विद्रोह का निराकरण कैसे हो ?"

सभी ने मिलकर कहा, तुरन्त वर्षा हो, तभी प्रजा संतुष्ट हो सकती है।"

मछुआइन ने पूछा, "वर्षा होना किसके हाथ में है ?" दरबारियों ने कहा कि यह तो इन्द्र के हाथ की बात है।

मछुआइन ने उस परी को याद किया। वह आई तो मछुआइन ने उससे कहा कि मुझे इन्द्र बना दे।

परी क्रोध से तिलमिला उठी और उसने वरदान देने के बदले शाप दे दिया कि जा, जैसी थी वैसी ही हो जा (याने मछुआइन बन जा)।

कहने की देर थी कि वही पहले वाली स्थिति हो गई। वही टूटी-सी झोंपड़ी और वही दारिद्र्य का साम्राज्य।

मछुआइन को इससे बहुत बड़ा दुःख हुआ। घोर पश्चात्ताप के कारण वह पागल सी होगई, लेकिन मछुआ तो खुश-खुश होगया, क्योंकि अब उसे फिर से परिश्रम द्वारा उपार्जन की हुई रोटी खाने का अवसर मिल गया था।

ठीक इसीसे मिलती-जुलती एक कहानी 'हितोपदेश' में है, जिसमें एक

चूहे ने एक ऋषि से क्रमशः चूहे से बिल्ली, बिल्ली से कुत्ता और अंत में सिंह बनने का वरदान मांग लिया था, और जब उसे सिंह बना दिया गया तो वह ऋषि को ही खा जाने के लिए झपटा। इसपर ऋषि ने रुष्ट होकर उसे शाप दे दिया था कि 'पुनर्मूषको भव!' (फिर चूहा बन) और वैसा ही हुआ।

२१ ▥ 'चाह गई, चिंता गई...'

एक बार की बात कि भगवान बुद्ध पाटलिपुत्र में विहार कर रहे थे। उनका उपदेश सुनने के लिए बहुत बड़ी भीड़ नित्य ही वहां इकट्ठी हुआ करती।

प्रवचन के समय एक बार उनके प्रधान शिष्य स्वामी आनन्द ने पूछा, "भगवन्, आपके सामने ये जो हज़ारों लोग बैठे हैं, इनमें सबसे अधिक सुखी कौन है?"

बुद्ध भगवान ने कहा, "सबसे पीछे फटेहाल, दुबला-सा जो एक आदमी बैठा है, वह सबसे अधिक सुखी है।"

आनन्द को इस पर शंका हुई और उसने अपनी शंका बुद्ध के सामने प्रकट की।

बुद्ध ने कहा, "ज़रा ठहरो!"

फिर उन्होंने बैठे हुए सारे लोगों से एक-एक करके पूछा, "तुम्हें क्या चाहिए?"

किसीने धन की इच्छा प्रकट की, किसीने अपने स्वास्थ्य की कामना की, किसीने लड़का चाहा, किसीने शत्रु पर विजय और किसीने कुछ और। ग़रज़ कि एक-न-एक चाह सभी ने प्रकट की।

होते-होते उस फटेहाल आदमी की भी बारी आई। उसने कहा, "मुझे तो कुछ भी नहीं चाहिए। चाहिए तो यही चाहिए कि मुझे कभी किसी भी तरह की चाह न हो। मैं तो अपने को परम सुखी अनुभव करता हूं।"

आनन्द की शंका का निराकरण हो गया।

महात्मा कबीर के शब्दों में—"चाह गई चिंता मिटी, मनुआ बेपरवाह, जाको कछु ना चाहिए, सो साहन पति साह।"

२२ ||||| प्रकृति का ही दूसरा नाम आदत है

दो मछुआइनें थीं। वे रोज मछली पकड़कर अपने गांव में थोड़ी ही दूर पर एक शहर में उन्हें बेचने जाया करतीं। ऐसा करने में उन्हें एक नदी पार करनी पड़ती। नदी में आम तौर पर पानी कम ही रहता था। गर्मियों में तो वह बिल्कुल ही सूख जाया करती।

एक बार वर्षा ऋतु में जब वे शहर में पहुंचीं और अपनी मछलियां बेचकर लौटने लगीं तो जोरों की वर्षा आ गई। नदी में पानी इतना चढ़ गया कि पार करते नहीं बन पड़ रहा था। डोंगी उन्हें कोई मिली नहीं तो उन्होंने यह तय किया कि आज की रात यहीं ठहरा जाय।

उनके गांव की एक मालिन राजा के बाग में नौकरी करती थी। दोनों मछुआइनें उसके पास पहुंचीं और वहां ठहरने की मंशा जताई। मालिन ने उनका आदर-सत्कार किया। गांव के समाचार पूछे और तीनों जनी बैठकर घण्टों गप-शप करती रहीं। मालिन ने उनके लिए भोजन आदि की अच्छी व्यवस्था की और सोने के लिए जगह बता दी।

पर मछुआइनों को फूलों की गन्ध के मारे नींद ही नहीं आई। उनको तो ऐसा लगा कि यह कोई विचित्र गंध आ रही है। करवटें बदलती रहीं वे तो। आखिर किसी तरह नींद नहीं आई, तो उन्होंने अपनी नाक के ऊपर मछली भरने की टोकरी रख ली और उनको सुखपूर्वक नींद आ गई।

यह घटना हमें सिखाती है कि आदमी आदतों का गुलाम होता है।

२३ सद्कमाई

एक वार गुरु नानक घूमते-फिरते उज्जयिनी नगरी में पहुंचे। एक सेठ गले में रुद्राक्ष की माला पहने और मोटे-मोटे तिलक-छापे लगाये उनके पास भोजन का थाल लेकर पहुंचा। थाल भांति-भांति के स्वादिष्ट व्यंजनों से भरा हुआ था। गुरु नानक ने सेठ की ओर देखा तथा भोजन करने से इन्कार कर दिया।

इतने में एक लुहार वहां पर जौ की वनी हुई दो रूखी रोटियां लेकर आया। गुरुजी ने लुहार के हाथ से उन रोटियों को वहुत प्रेमपूर्वक ग्रहण किया और स्वाद लेकर खाने लगे। सेठ को आश्चर्य तो हुआ ही, लेकिन दुःख भी कम नहीं हुआ। उसने सोचा, यह क्या हुआ! मेरे इतने कीमती और भांति-भांति के व्यंजनों की ओर तो गुरुजी ने ज़रा आंख उठाकर भी नहीं देखा, और इस लोहार की मोटी रोटियों को ये ऐसे प्रेम से खा रहे हैं! इस लुहार की और मेरी न जाति में वरावरी है, न हैसियत में, न कीर्ति में, न मेरे और इसके भोजन में—फिर इसका कारण क्या है ?"

आखिर सेठ से नहीं रहा गया तो उसने गुरुजी से पूछा, "महाराज, यह कहां का अन्याय है कि मैं जो आपके लिए इस लुहार से पहले भोजन लेकर आया था और इतना स्वादिष्ट भोजन लेकर आया था, उसकी ओर तो आपने आँख खोलकर देखे विना ही ग्रहण करने से इन्कार कर दिया, जवकि इस लुहार की रोटियां इतने प्रेम से खा रहे हैं?"

गुरु नानक थोड़े मुलके, फिर वोले, "इस लुहार की कमाई परिश्रम की कमाई है, सद्कमाई है, पवित्र कमाई है, जवकि तेरी कमाई में न तो परिश्रम है, न सत है और न पवित्रता है।"

सेठ का चेहरा क्रोध से तमतमा गया और उसने कहा, "आपने जो कहा, उसका मैं प्रमाण चाहता हूं।"

गुरुजी ने कहा, "ज़रा वैठो, अभी प्रमाण सामने आता है।"

फिर गुरुजी ने उस लुहार की दी हुई रोटी को दोनों हाथों से निचोड़ा तो उससे दूध की धार निकली, जवकि सेठ के 'मालपुए' को निचोड़ने पर उसमें से निकला रक्त।

सच है, अपने कठिन परिश्रम और गाढ़े पसीने द्वारा ईमानदारी से की हुई कमाई ही सद्कमाई कहलाती है और उसीकी बरकत होती है।

सेठ का सिर शर्म से झुक गया और वह अपना थाल उठाकर वापस अपने घर चला गया।

२४ ‘बिधि गति अति बलवान’

एक समय की बात है। महापराक्रमी रावण घूमते-फिरते कोसल देश की राजधानी जा पहुंचा! वह अपने बाहुबल का अभिमान करता हुआ वहां घूम रहा था कि उसे अचानक एक बहुत सुन्दर और तेजस्वी स्त्री दिखाई दी। वह कोसल-नरेश के महलों से वापस आ रही थी।

रावण ने उससे पूछा, "तुम कौन हो? कहां से आ रही हो? क्या करके आई हो? क्या करने जा रही हो?"

स्त्री ने कहा, "मैं बैमाता[1] हूं। कोसल-नरेश की रानी ने एक कन्या को जन्म दिया है। उसकी तकदीर के आखर घालने आई थी और अब मैं वापस अपने घर जा रही हूं।"

रावण ने पूछा, "तुम किसीके भाग्य में जो भी लिखती हो, वह सब सही होता है क्या?"

बैमाता ने कहा, " 'राई घटै न तिल वढ़ै, बैमाता का लेख।' मैं किसीके भाग्य में जो कुछ लिखती हूं, वह अक्षरशः सही होता है।"

रावण ने उत्सुकतापूर्वक पूछा, "ज़रा मुझे यह तो बताओ कि इस लड़की के भाग्य में तुम क्या लिखकर आई हो?"

बैमाता ने संक्षिप्त उत्तर दिया, "अयोध्या के राजा दशरथ के साथ इस लड़की का विवाह होगा और इसकी कोख से एक परम प्रतापी और

१. विघना या विधाता का पर्यायवाची। इसका प्रयोग स्त्रीवाचक रूप में होता है।

धर्मशील वालक का जन्म होगा। मैंने इसके भाग्य में यह भी लिखा है कि उस पुत्र के द्वारा तुम्हारी मृत्यु होगी।"

रावण ठठाकर हँसा और वोला, "हे वैमाता, तुम्हारा यह लिखना तो सत्य सिद्ध होनेवाला नहीं है। इन्द्र और कुवेर को जीतने वाले रावण की मृत्यु एक मनुष्य के हाथों हो, यह तीन काल में भी सत्य सिद्ध होने वाली वात नहीं। जिस रावण ने दिक्पालों को जीत लिया है और जिसने अपने वाहुवल से कैलास को उठा लिया है, उसको एक मनुष्य मार सके, यह निपट अनहोनी वात है।

"हे वैमाता, मुझे लगता है कि तुम्हारी मति वुढ़ापे के कारण मारी गई है। 'लिखा विरंचि जरठ मति मोरे' "।

वैमाता ने कहा, "मैं तुम्हें आज क्या कहूं! आज तो तुम अपने वल और विजय के मद में इतने चूर हो रहे हो कि अपने अहंकार को चुभने-वाली मेरी वात का विश्वास थोड़े ही करोगे! लेकिन मैं तुम्हें ठोक-वजा-कर एक वार फिर कहे देती हूं कि 'विधि-गति टारे नाहिं टरै।' जिस दिन राम के तीक्ष्ण वाणों से विंधकर तुम धराशायी होओगे, उस दिन तुम स्वयं मान लोगे और कह दोगे कि 'विधि गति वाम सदा सव काहू'।"

इतना कहकर वैमाता तो निगाह से ओझल हो गई और रावण अपने वाहुवल को तौलता हुआ और उस पर अभिमान करता हुआ लंका को लौट गया।

उस दिन से रावण का मन थोड़ा-थोड़ा सशंकित रहने लगा और उसने कौसल्या की गतिविधि पर दृष्टि रखनी आरम्भ कर दी। फिर भी उसे अपने वल पर इतना अभिमान था कि उसके मन में कोई विशेष चिंता नहीं हुई।

होते-होते कौसल्या की आयु विवाह के योग्य हुई और उसकी सगाई अयोध्या-नरेश दशरथ के साथ हो गई।

जब रावण को इस वात का पता लगा तो उसने यह तय किया कि इस विवाह में विघ्न डालना चाहिए, 'न रहेगा वांस, न वजेगी वांसुरी।' यह सोच कर जिस दिन राजा दशरथ के साथ कौसल्या का विवाह होनेवाला था, उस दिन प्रातःकाल ही वह कोसल राज्य में जा पहुंचा और तत्काल कौसल्या

को कोसल-नरेश के महल से बलपूर्वक उठाकर एक पेटी में बन्द करके बहुत दूर ले जाकर एक नदी में प्रवाहित कर दिया।

इधर अयोध्या से बारात आ पहुंची। कोसल-नरेश ने सोचा कि जो कुछ हुआ, बहुत बुरा हुआ, लेकिन फिर भी कौसल्या के अपहरण का पता अयोध्यावासियों को न लगे तो अपनी आबरू बच जाय। अतः उन्होंने एक युक्ति रची। उस युक्ति के अनुसार एक डोम-कन्या को, जो कि रूप-रंग में बहुत सुन्दर थी, इस विवाह के लिए तैयार कर लिया गया और उसे स्नान कराके, सिर में सुगंधित तेल डालकर तथा आभूषित करके पूरा दुलहिन का रूप दे दिया।

वह डोम लड़की अपने मन में बहुत प्रसन्न हो रही थी और अपने भाग्य पर इठला रही थी कि उसे अयोध्या-नरेश की पटरानी होने का सौभाग्य मिलने वाला है। एक साधारण घर की डोम कन्या के लिए इससे बड़ी बात क्या हो सकती थी! लेकिन उसे पता नहीं था कि इस विवाह में विघ्न पड़ने वाला है। वह बेचारी तो मन-ही-मन अनेक सुख-स्वप्न संजो रही थी। उसे क्या पता था कि 'मेरे मन कछु और है, विधना के कछु और'।

उधर जब दशरथ और गुरु वसिष्ठ अन्य राजाओं के साथ बारात लेकर कोसल-नरेश के यहां पहुंचे, तो दशरथ और वसिष्ठ के हाथी सहसा चमक गये और बहुत जोरों से चिंघाड़ते हुए शहर के बाहर की ओर भाग चले। इस तरह डोम लड़की के साथ जो विवाह होने वाला था, उसमें भी विघ्न पड़ गया।

इसी विघ्न को लेकर ही राजस्थानी में एक कहावत प्रचलित है— 'कुंआरी रैंगी डूमणी घाल पटा में तेल।'

गुरु वसिष्ठ और राजा दशरथ के हाथी इतने जोरों से भागे कि दूसरी कोई सवारी उनके पास तक नहीं पहुंच सकी। बारात वापस अयोध्या चली आई और गुरु वसिष्ठ और राजा दशरथ को लेकर वे दोनों हाथी एक अन-जानी जगह पर जाकर खड़े हुए। जगह एकदम अपरिचित थी, लेकिन फिर भी जब उन्होंने देखा कि हाथियों का मद उतर गया है तो उन्हें ढाढ़स बंधा, अपने-अपने हाथियों से नीचे उतरे। इतने में देखते क्या हैं कि सामने जो नदी बह रही है, उसमें एक सन्दूक बहता हुआ उनकी तरफ आ रहा है।

जव वह सन्दूक गुरु वसिष्ठ के सामने पहुंचा और उन्होंने उसे खोलकर देखा तो उसमें एक अत्यन्त रूपवती, नख-शिख-आभूषित स्त्री को दुलहिन के वेश में वैठे पाया। उन्हें वहुत आश्चर्य हुआ। वसिष्ठ ने उस स्त्री से पूछा, "हे महाभागिनी, तुम कौन हो और किसने तुम्हें इस तरह पानी में वहा दिया है?"

कौसल्या ने लज्जा से अवनत होकर वड़ें संकोच से कहा, "मैं कोसल-नरेश की पुत्री हूं। कौसल्या मेरा नाम है। मेरा विवाह आज ही अयोध्या-नरेश दशरथ के साथ होने वाला था कि अचानक एक शक्तिशाली राक्षस ने अपहरण करके मेरी यह गति की है।"

गुरु वसिष्ठ ने कहा, "हे सुभगे! जिन राजा दशरथ के साथ तुम्हारा विवाह होनेवाला था, वे यह तुम्हारे सामने खड़े हैं। चाहे कोई राक्षस हो, चाहे कोई दूसरा वलवान वीर, लेकिन होनी के सामने किसीका वश चलता नहीं। यद्यपि राक्षस तुम्हें हरकर ले आया और वहुत दूर ले आया, लेकिन विधाता के नियम अटल होते हैं—'होनी तो होकर रहे, अनहोनी ना होय।' तुम अव प्रसन्न मन से इनके साथ विवाह करो। मैं इनका कुलगुरु हूं। वसिष्ठ मेरा नाम है। विवाह की सारी विधि मैं सम्पन्न कराये देता हूं।"

यह सुनकर कौसल्या के हर्ष की सीमा न रही। उसे ऐसा लगा, मानो वह एक दुःस्वप्न से जागकर एक सुखद संसार में पहुंच गई हो।

फिर वसिष्ठ ने 'आला गीला वांस कटीला' के अनुसार दशरथ और कौसल्या को विवाह-सूत्र में वांध दिया।

उसके वाद राजा दशरथ कौसल्या को लेकर अपनी नगरी अयोध्या में लौट आये। अयोध्यावासियों को गुरु वसिष्ठ-सहित राजा दशरथ को अपने बीच पाकर और सारी घटना जानकर वड़ी प्रसन्नता हुई। जो अयोध्या-वासी चिन्ता से व्याकुल हो रहे थे, वे वहुत ही आनंदित हो उठे। 'सूखत धान परा जनु पानी' की हालत हो गई उन लोगों की। घर-घर मंगलाचार होने लगे और 'विरुदावली' गाई जाने लगी—'घर-घर वाजण लाग वधावा।'

उधर जव रावण को मालूम हुआ कि उसके सव प्रयत्नों के वाव-जूद कौसल्या का विवाह दशरथ के साथ हो गया है, तो उसका चित्त खिन्न

हो गया; लेकिन चूंकि रावण इतना मदोन्मत्त था कि वह सहज ही भाग्य के सामने हार माननेवाला नहीं था, इसलिए उसने सोच लिया कि विवाह हो जाने मात्र से क्या होता है, अभी तो वहुत समय वाकी है। दूसरी कोई योजना काम में लेंगे। ऐसा सोचने के वाद उसकी वह खिन्नता भी लुप्त हो गई।

इधर रानी कौसल्या को पुत्र की प्राप्ति हुई। समय पाकर वह पुत्र वड़ा हुआ और दशरथ का ज्येष्ठ पुत्र राम कहलाया।

आगे चलकर जव ऋषि-मुनियों को रावण भांति-भांति की यातनाएं देने लगा और उनकी यज्ञादिक क्रियाओं में विघ्न डालने लगा, तो महामुनि विश्वामित्र यह सोचकर कि 'हरि विनु मरें न निसिचर पापी' राक्षसों का वध करने के लिए राम को दशरथ से मांगकर ले गये। राम ने विश्वामित्र के साथ जाकर उनके तप और यज्ञादि की रक्षा की। ताड़का और सुवाहु आदि का वध किया। अहल्या का उद्धार किया। जनकपुर में सीता के स्वयंवर में जाकर ऐसे विशाल शिव-धनुष को तिनके की भांति तोड़ा, जिसको दस हजार राजा मिलकर भी नहीं उठा सके थे। सीता के साथ उनका विवाह हुआ और वे अयोध्या वापस आये। उसके वाद जिस तरह उनके राज्याभिषेक में विघ्न पड़ा और वे वनवास गये तथा अन्त में रावण का वध किया, उसे दोहराने की आवश्यकता नहीं है।

रावण जव मरणशय्या पर पड़ा था, तव वैमाता उसके सामने एक वार फिर प्रकट हुई और उसने हँसकर रावण से कहा, "कहो रावण, अव तो तुम्हें विश्वास हो गया न कि विधि-गति अति वलवान होती है ?"

२५ जगदेव की दानशीलता

एक वार की वात है। कंकाली नाम की एक चारणी, जो कि देवी की परम भक्त थी और जिस पर देवी की कृपा भी थी, अपने नगर के राजा के

पास गई, लेकिन उसने राजा की 'विरुदावली'[1] न गाकर जगदेव की गाई। जगदेव उसी नगर का रहनेवाला पंवार जाति का एक राजपूत था, किंतु था परम उदार। इस पर राजा का नाराज होना स्वाभाविक था, क्योंकि एक याचक मांगने के लिए तो जाय राजा के पास और उस मौके पर यशोगान करे किसी दूसरे आदमी का, यह बात राजा को अच्छी कैसे लगे!

राजा कंकाली पर चिढ़ गया और बोला, "क्या बार-बार जगदेव के नाम की रट लगा रखी है! भला नगर के राजा की वह क्या बराबरी करेगा! यदि यह बात मान भी ली जाय कि जगदेव बहुत उदार है तो भी आखिर वह कितना दे सकता है? अपने राजा के सामने एक साधारण नागरिक की 'विरुदावली' गाने में तुम्हें लज्जा आनी चाहिए।"

कंकाली बोली, "राजाजी, माना कि तुम राजा हो और धनी भी हो, लेकिन जगदेव जगदेव ही है—दान में दूसरा कोई उसका सानी नहीं।"

राजा ने कहा, "जाओ, जगदेव से दान ले आओ। वह जो कुछ और जितना तुम्हें देगा, उससे दुगुना मैं तुम्हें दे दूंगा।"

कंकाली ने कहा, "राजाजी, ठगा जाओगे। सोच-समझकर कौल करो।"

राजा ने कहा, "मैं तुम्हें कहता हूं कि जगदेव से दुगुना दे दूंगा तो मानो कि अवश्य दे दूंगा। आखिर मैं राजा हूं!"

कंकाली बोली, "अच्छी बात, मैं जाती हूं, लेकिन कहे जाती हूं कि तुम पछताओगे।"

ऐसा कहकर कंकाली जगदेव के पास गई। वहां जाकर उसने जगदेव को 'विड़दाया'[2]।

इसपर जगदेव ने कंकाली से पूछा, "कहो, क्या चाहती हो?"

कंकाली ने कहा, "तुम्हारा सिर दान में मांगने आई हूं।"

जगदेव तो आये हुए याचक को 'ना' कहना ही नहीं जानता था, अतः उसने तुरन्त कह दिया, "तुम्हें मैं शीशदान अवश्य दूंगा, तुम ज़रा-सी देर ठहरो!"

कंकाली जब बैठ गई तो जगदेव अपनी हवेली के भीतर गया। पत्नी के

१. यशोगान। २. यशोगान किया।

पास जाकर बोला, "कंकाली आई है, मेरे सिर का दान चाहती है। तुम क्या कहती हो?"

जगदेव की पत्नी ने कहा, "तुम्हें तो उसे शीश-दान उसी क्षण दे देना चाहिए था, जिस क्षण कंकाली ने मांगा था। तुम जब हवेली के भीतर आये और कंकाली के पास वापस जाओगे, इस बीच अगर तुम्हारी मृत्यु हो जाय, तो कंकाली का कर्जा ही अपने ऊपर रह जायगा।"

जगदेव उल्टे पांव कंकाली के पास गया और अपना सिर उतारकर उसे दे दिया।

कंकाली जगदेव के सिर को थाल में रखकर, उस पर रेशमी कपड़ा डालकर, राजा के पास गई और जाकर बोली, "राजाजी, मैं दक्षिणा ले आई हूं।"

राजा ने कहा, "दिखाओ!"

कंकाली ने कहा, "पहले अपना कौल दोहराओ!"

राजा ने कहा, "तुम्हें एक बार कह दिया न, जगदेव से दुगुनी दक्षिणा मुझसे ले लेना। इसमें कोई फर्क नहीं पड़ेगा।"

कंकाली ने ज्योंही थाल का कपड़ा हटाया, तो उसमें जगदेव का सिर देखकर राजा मूच्छित होकर गिर पड़ा।

कंकाली वापस जगदेव के घर पर आई। उसने देवी की स्तुति की और देवी ने जगदेव को फिर से जिला दिया। इसकी साक्षी के रूप में नीचे एक दोहा और एक सोरठा दिये जाते हैं :

१. ग्यारह सौ इक्काणमें, चैत तीज रविवार।
सीस कंकाली भट्ट नैं, जगदे दियो उतार॥

२. पंवार नकारो ना करै, मेरु सिखर जाको हियो।
कंकाली कीरति करै, सीस दान जगदे दियो॥

२६ ||||| सत्या

रामू नाम का एक किसान हिमालय की तलहटी के एक गांव में रहा करता था। अच्छी-खासी जमीन थी उसके पास। काफी गाएं भी रखता था वह, लेकिन गायों से जो दूध मिलता था, उसे पास-पड़ोस के और गांव के बच्चों को ही पिला दिया करता, कभी बेचता नहीं था।

उसकी पत्नी का नाम अन्नपूर्णा था। 'यथा नाम तथा गुण' के अनुसा वह थी भी पूरी-पूरी अन्नपूर्णा ही।

अपने कुटुम्ब का खर्चा वे लोग खेती से चलाते थे।

रामू और उसकी पत्नी दोनों को ही अपनी गायों से बहुत प्यार था। सारी गाएं भी इन दोनों को बहुत प्यार करती थीं। रामू ने हर गाय का अलग-अलग नाम रख छोड़ा था। किसी भी गाय को वह या उसकी पत्नी नाम लेकर पुकारते तो वह गाय पूंछ उठाकर दौड़ी-दौड़ी आती और उनकी हथेली चाटने लग जाती।

हर गाय को अच्छी तरह नहलाना, सहलाना, उनके सामने चरने को रखे हुए घास-दाने को अच्छी तरह साफ करना, उनके रहने के स्थान को बुहार-धोकर स्वच्छ रखना उन लोगों का नित्य का नियम था। क्या मजाल कि गायों को दिये जाने वाले चारे-दाने में एक भी कंकड़ या ज़रा-सा भी कूड़ा-करकट रह जाय।

वैसे तो रामू के पास जितनी गाएं थीं, वे सारी ही बहुत अच्छी थीं। कोई भी आदमी उसके घर आता, तो उन गायों को देखता ही रह जाता था। लेकिन सत्या नाम की गाय तो उनमें सबसे बढ़िया थी।

श्याम वर्ण, चिकनी त्वचा, मांसल और पुष्ट देह। ऊपर मक्खी भी बैठे तो फिसल जाय। सबसे ज्यादा दूध देनेवाली गाय थी वह। सीधी इतनी कि चाहे कोई बच्चा भी उसके पांवों में लोटा करे, मजाल नहीं कि खरोंच भी आ जाय।

रामू नित्य अपनी गायों को जंगल में चराने ले जाता था। हिमालय की तलहटी की हरियाली का क्या कहना! जहां तक निगाह जाय, हरी-हरी नरम-नरम घास ही बिछी दिखाई दे, जैसे हरा गलीचा बिछा हुआ हो।

कलकल-छलछल करते हुए शीतल पानी के झरने। पूरे गांव की गाएं उसी जंगल में सुख से चरा करतीं। शीतल-मन्द-सुगन्धित वायु उनकी देह को सहलाया करती।

एक दिन की वात है कि सत्या भटककर जंगल में दूर चली गई और वहां पहुंच गई, जहां एक शेर की मांद थी।

कामधेनु-सी सुन्दर और पुष्ट देह वाली गाय को देखकर शेर के मुंह में पानी भर आया। उसने माना कि आज तो भगवान ने उसे घर-बैठे ही आहार भेज दिया है।

वह दहाड़ा और लपककर गाय के पास पहुंच गया।

शेर सत्या को दवोचने ही वाला था कि सत्या के कंठ से मनुष्य-जैसी वाणी फूटी। वह बोली, "मेरे शेर भैया, तुम मुझे खाना ही चाहते हो तो शौक से खा लेना। लेकिन मुझे थोड़ा-सा समय दो—इतना-सा कि मैं घर जाकर अपने वच्चे को वस एक वार नजर भर के देख आऊं, उसे दूध पिला आऊं। साथ ही मेरी जो दूसरी वहिनें वहां रह रही हैं, उन्हें और अपने मालिक को उसकी सम्हलावन दे आऊं।"

शेर ने कहा, "इतने भोले तो ब्राह्मण होते हैं। घर-आया शिकार छोड़ दूं, इतना भोला मैं नहीं हूं। अगर मैं तुम्हें छोड़ देता हूं तो मेरे वरावर कोई मूर्ख नहीं, और अगर तुम सचमुच ही लौटकर आओ, तो तुम्हारे वरावर कोई मूर्ख नहीं।"

सत्या ने कहा, "मेरे भैया, न किसी के मूर्ख होने का सवाल है और न किसी के भोले होने का। मैं जाति से गौ हूं—निरीह और निर्दोप! छल-कपट, झूठ-फरेब हमारी जाति को छू नहीं गया है और इसीलिए हमारी महिमा सारे शास्त्रों ने गाई है। तुम ज़रा विश्वास करके तो देखो—'भवानी-शंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।' शिव-पार्वती के प्रधान गुणों में उन्हें श्रद्धा और विश्वास का रूप वताया गया है।"

सिंह को विश्वास हो गया और उसने गाय को जाने दिया।

सत्या अपने स्थान पर पहुंची। अपने वच्चे को दूध पिलाया, उसे पुचकारा, प्यार किया और फिर उसने सारी सखियों को आप-वीती कह सुनाई।

सत्या ने अपनी सारी सखियों से कहा, "मैं तो अब अपने वचन के अनुसार उस सिंह के पास जा रही हूं, लेकिन अपने इस बच्चे को तुम्हें सौंपे जाती हूं।"

सारी गाएं रोने लगीं और रोते-रोते ही सबने अपनी सखी को विदा दी। बच्चे की आंखों से भी आंसुओं की झड़ी लग गई। सत्या ने एक बार अपने बछड़े को फिर से जी भरकर प्यार किया।

सत्या भागी-भागी पहुंची शेर के पास और उससे बोली, "लो, अपने दिये हुए वचन के अनुसार मैं तुम्हारा भक्ष्य बनने के लिए आ गई हूं। बेधड़क होकर तुम मुझे खाओ और अपनी भूख शान्त करो!"

सत्या का इतना कहना था कि शेर विभोर हो गया। आंखों से आंसू भर आये और सिर झुकाकर वह गाय के सामने बैठ गया। उसमें धर्म-बुद्धि जाग्रत हो गई और उसे अपने ऊपर बड़ी ग्लानि हुई।

सिंह ने कहा, "हे गौ, तुम तो जगज्जननी के समान हो। तुम्हारी धर्म-बुद्धि देखकर मुझे अपने ऊपर बहुत ही ग्लानि हो रही है। एक तो तुम हो, जो सारी उमर लोगों को दूध पिलाती हो, खेती करने के लिए उन्हें बैल देती हो, खेत में देने के लिए उन्हें गोबर-रूपी खाद देती हो और मरने के बाद भी अपना चमड़ा मनुष्यों को पगरखी[1] बनाने के लिए दे देती हो, यहां तक कि तुम्हारा मांस, मज्जा और हड्डियां भी खाद के काम आ जाती हैं, और एक मैं हूं, जिसके नाम से हर प्राणी कांपता रहता है, जो हर जीव का भक्षण करता है, जिसका शरीर भी किसी उपयोग में नहीं आता। तुम देती ही देती हो और मैं लेता ही लेता हूं। मैं तो पृथ्वी का भार हूं।...

"मेरे-जैसे हिंसक जीव को तो जीवित रहने का भी अधिकार नहीं है। पता नहीं, विधाता ने मेरी जाति के जीवों की रचना ही क्यों की?"

इतना कहकर सिंह पास बहती हुई नदी में कूद पड़ा और अपने प्राण त्याग दिये।

१. जूतियां

२७ तिरिया-हठ

राजा भोज जीव-जन्तुओं और पशु-पक्षिओं की बोली समझ लिया करते थे, लेकिन इस बात का पता दूसरे किसी को नहीं था, क्योंकि जिस साधु ने उन्हें ऐसा वरदान दिया था, उसने कह दिया था कि यदि तुम यह रहस्य किसीके सामने प्रकट कर दोगे तो तत्काल तुम्हारी मृत्यु हो जायगी। इसलिए राजा भोज ने वरदान मिलने की बात किसीको नहीं बताई थी।

एक दिन की बात कि राजा भोज जब भोजन कर रहे थे, तो उसके हाथ से चावल का एक ग्रास छूटकर जमीन पर गिर पड़ा। एक चींटी आई और उसने पड़े हुए ग्रास को चखकर दूसरी चींटियों को पुकारा, "जल्दी आओ और देखो, भोजन का कितना बड़ा सुस्वादु पहाड़ यहांपर पड़ा है।"

राजा भोज को यह सुनकर हँसी आ गई कि कितने छोटे-से ग्रास को ये चींटियां एक बड़ा पहाड़ मानती हैं। रानी भानुमती पास ही बैठी हुई थी। उसने राजा से पूछा कि आपको किस बात पर हँसी आई? राजा ने कहा, "यों ही, कोई खास बात नहीं है।"

रानी ने कहा, "ऐसा नहीं हो सकता। आप निश्चय ही मेरी किसी-न-किसी बात पर हँसे हैं और आप मुझे बताना नहीं चाहते, लेकिन आज मैं भी आपसे पूछे बिना नहीं मानूंगी।"

राजा ने कहा, "ऐसी बात नहीं है। यों ही हँसी आ गई थी।"

लेकिन रानी ने हठ पकड़ लिया। राजा ने कहा, "देखो, हठ मत करो! कुछ ऐसा रहस्य है कि अगर तुम हठ पर अड़ी रहीं तो बड़ा अनिष्ट हो जायगा, आखिर तुम पछताओगी।"

लेकिन राजा कितना भी समझाये, तिरिया-हठ सो तिरिया-हठ!

भानुमती ने कहा, "अनिष्ट होगा तो मैं भुगत लूंगी, लेकिन आज मैं पूछे बिना नहीं मानूंगी।"

राजा भोज को रानी के हठ में अपनी मृत्यु स्पष्ट दिखाई दी और उन्होंने सोचा कि जब मरना ही है तो क्षिप्रा नदी के किनारे चलकर ही क्यों

न मरें ! यह सोचकर उन्होंने रानी से कहा, "क्षिप्रा नदी पर चलो, वहीं तुम्हें वताऊंगा।"

राजा और रानी दोनों ही नदी पर जाने के लिए रवाना हुए। थोड़ी दूर जाने पर उन्हें एक वकरा और एक वकरी आते हुए मिले। वकरी किसी वात के लिए ज़िद कर रही थी। वकरा उसे समझा रहा था, लेकिन वकरी मान नहीं रही थी। इसलिए वकरे ने गुस्से में आकर कहा, "मुझे भी तूने राजा भोज ही समझ लिया है क्या, जो अपनी पत्नी के हठ के सामने घुटने टेककर मरने जा रहा है। ज्यादा हठ करेगी तो ऐसी मार मारूंगा कि छठी का दूध याद आ जायगा।"

राजा भोज, जो सारे जीव-जंतुओं और पशु-पक्षियों की वोली समझते थे, यह सुनकर दंग रह गये। उन्होंने सोचा, वकरा विल्कुल ठीक ही कहता है। यों स्त्री-हठ के सामने मृत्यु स्वीकार थोड़े ही कर लेनी चाहिए ! ऐसा सोचकर उन्होंने आग्नेय नेत्रों से रानी की ओर देखकर कहा, "देखो, मैं क्यों हँसा था, यह तुम्हें वतलाने वाला नहीं हूं। राजी-राजी मानो, तव तो वापस महल में चल सकती हो, नहीं तो मैं अभी और यहीं पर तुमको त्याग देता हूं। तुम्हारी इच्छा हो, वहां जाओ और जंचे सो करो। तुम्हारा-मेरा कोई लेना-देना नहीं, कोई ताल्लुक नहीं।"

यह सुनकर रानी सन्न रह गई और अपने हठ की सारी वात भूलकर उसने राजा से क्षमा-याचना की।

राजा-रानी दोनों अपने महल में वापस आ गये। उस दिन से रानी ने राजा के सामने किसी वात के लिए हठ नहीं किया।

यह तो हुई एक कहानी। अव तिरिया-हठ को लेकर कुछ और प्रसंग भी नीचे दिये जा रहे हैं :

केकय-नरेश अश्वपति की रानी शुभलोचना ने एक वार अपने पति से पशु-पक्षियों की वोली के वारे में कुछ पूछने पर हठ किया। उस हठ को मान लेने से केकय-नरेश की मृत्यु हो जाती। राजा भोज और केकय-नरेश को एक-सा ही वरदान प्राप्त था। इसलिए पहले तो उन्होंने अपनी पत्नी को वहुत समझाया, लेकिन आखिरकार वह जव नहीं मानी, तो राजा ने उसे निर्वस्त्र करके अपने महल से निकाल दिया।

इसके थोड़े ही बाद रामायण की कथा आती है, जिसके अनुसार रानी कैकेयी के हठ ने तो राजा दशरथ के प्राण ही ले लिये थे। दशरथ ने अपनी सत्यशीलता तथा वचनवद्धता के कारण अपने दिये हुए वचन से मुकरने के वदले मृत्यु का वरण श्रेयस्कर समझा था।

रानी शुभलोचना को लेकर ही किसी कवि ने कहा है—ऐसी माता के ऐसी पुत्री हो, इसमें आश्चर्य की वात ही क्या ! "ववूल पर आम थोड़े ही लगेंगे !" शुभलोचना के तो कैकेयी ही जन्मेगी, कौसल्या तो जन्मने से रही !

राजस्थानी भाषा में एक कहावत है—"मां गेल डीकरी, घड़े गेल ठीकरी।"[१]

तिरिया-हठ का एक प्रसंग और स्मरणीय है।

एक वार तक्षक नाग किसी राजकुमारी को देखकर उसके सौन्दर्य पर मोहित हो गया था और उसके महलों में रहने लगा था। दिन के समय तो वह सांप बनकर इधर-उधर छिप जाता और रात पड़ते ही सुन्दर युवक का वेश धारण करके राजकुमारी के साथ रहा करता।

होते-करते एक दिन राजकुमारी ने तक्षक को मनुष्य से सांप और सांप से मनुष्य होने की विद्या के वारे में पूछा तथा उसने यह विद्या जानने की इच्छा प्रकट की। तक्षक ने वताने से इन्कार किया और इसके दुष्परिणाम की वात भी कही, लेकिन राजकुमारी अपनी वात पर अड़ी रही।

इसपर तक्षक नाराज होकर सांप वन गया और उसी क्षण पाताल लोक में चला गया और फिर कभी राजकुमारी के पास नहीं आया। राजकुमारी ने वहुत पश्चात्ताप किया, लेकिन 'अव पछताये होत का ?'

ऊपर के चारों प्रसंगों में तिरिया-हठ तो समान रूप से आया है, लेकिन परिणाम अलग-अलग हैं। राजा भोज पहले कमजोर सिद्ध होते हैं, वाद में नीति के अनुसार काम करते हैं। कैकय-नरेश आवश्यकता से अधिक कठोर सिद्ध होते हैं। राजा दशरथ न कोमल हैं, न कठोर, वरन दिये हुए वचन पर दृढ़ रहनेवाले हैं। परिणाम जो भी आवे—'रघुकुल रीति सदा चलि आई,

१. जैसी मां होगी वैसी ही वेटी जन्मेगी और जैसा घड़ा होगा, वैसी ही ठीकरी होगी।

प्रान जायं वरु वचन न जाई' के अनुसार। चौथे प्रसंग में तक्षक नाग के स्वभाव में तटस्थता है। वह न तो तिरिया-हठ के सामने झुकता है और न राजकुमारी को कोई दण्ड ही देता है।

२८ रमैयो लाड़ी ले गयो

पांच मित्र यात्रा पर निकले : एक खाती, एक दर्जी, एक सुनार, एक लखारा और एक ब्राह्मण। रात पड़ गई तो वे एक जंगल में ही ठहर गये। पांचों ने तय किया कि एक-एक आदमी वारी-वारी से पहरा दे और वाकी के चार सो जायं।

पहला पहरा खाती के हिस्से में आया। चारों मित्र सो गये और खाती पहरे पर रहा। सामने एक बड़ा और खूब मोटा-सा लकड़ी का 'वोटा'[1] पड़ा था। खाती ने सोचा, इतनी देर बैठे-बैठे क्या करेंगे, एक मूर्ति ही घड़ डालें। ऐसा सोचकर उसने लकड़ी को उठाकर उससे एक अच्छी-सी प्रतिमा घड़कर तैयार कर ली।

खाती के पहरे की वारी जब समाप्त हुई तब उसने दर्जी को जगा दिया और स्वयं सो गया। दर्जी ने देखा कि सामने एक सुन्दर प्रतिमा बनी खड़ी है लेकिन निर्वस्त्र है, इसलिए सुन्दर नहीं लगती। यह सोचकर उसने अपने पहरे के समय में सिलाई करके उस प्रतिमा को अच्छे कपड़े पहना दिये।

दर्जी के पहरे का समय जब समाप्त हुआ, तो उसने सुनार को जगा दिया और स्वयं सो गया। सुनार ने उस प्रतिमा को देखा और सोचा कि कितनी सुन्दर प्रतिमा है और कितने सुन्दर वस्त्र पहने हुए हैं, किन्तु आभूषणों से हीन है, इसलिए यह प्रतिमा जितनी सुन्दर लगनी चाहिए, उतनी सुन्दर नहीं लगती। यह सोचकर उसने अपने पहरे की घड़ी में सारे आभूषण घड़कर

१. पेड़ के तने का मोटा हिस्सा।

उस प्रतिमा को नख-शिख से आभूषित कर दिया।

अपना पहरा समाप्त होने पर स्वर्णकार ने लखारे को जगा दिया और स्वयं सो गया। लखारे ने भी उस मूर्ति को देखा। मूर्ति की सुन्दरता की मन में सराहना की। साथ ही उसके सुन्दर वस्त्रों और आभूषणों की भी, किन्तु उसके मन में यह बात आई कि सुहाग के चिह्न-रूप लाख की चूड़ियां इसके हाथ में नहीं हैं। अतः उसने तुरन्त लाख की चूड़ियां बनाकर उसके हाथों में पहनां दीं।

उसके पहरे की घड़ी समाप्त हुई तो उसने ब्राह्मण को जगाया और स्वयं सो गया। ब्राह्मण ने देखा कि एक बहुत ही सुन्दर प्रतिमा वस्त्राभूषणों से सुसज्जित सामने खड़ी है, लेकिन प्राणहीन है, इसमें गति नहीं है, अतः सुन्दर होने पर भी किस काम की! यह सोचकर उस ब्राह्मण ने जीवन-मंत्र फूंका उस प्रतिमा में। अब तो वह प्रतिमा एक बहुत सुन्दर रमणी के रूप में परिवर्तित हो गई।

इतने में प्रातःकाल हुआ और बाकी चारों मित्र भी उठ बैठे। अब तो पांचों में विवाद खड़ा हो गया कि यह किसकी पत्नी मानी जाय!

खाती ने तर्क दिया, "अगर मैं नहीं होता तो इसकी रचना ही नहीं होती। इसलिए इसके पतित्व के लिए दूसरा कोई कैसे दावेदार हो सकता है?"

दर्जी और सुनार ने कहा, "यदि हम इसे वस्त्राभूषित नहीं करते, तो उस काठ के टुकड़े में क्या रखा था?" यह कहकर दोनों ने बारी-बारी से अपना पति होने का दावा जतलाया।

लखारे ने कहा, "चूड़ा इसने मेरा पहन रखा है। इसे सुहाग-चिह्न तो मैंने दिया है, इसलिए पति बनने का हक मेरा है। इसे पत्नी-रूप में प्राप्त करने का हक मेरे सिवा किसी दूसरे का नहीं हो सकता।"

इस पर ब्राह्मण ने कहा, "सब-कुछ होने पर भी यदि इसमें प्राण नहीं होते, गति नहीं होती, तो प्रतिमा का मूल्य क्या था? देखने में कितनी भी सुन्दर हो, वस्त्राभूषण भी चाहे जितने सुन्दर पहन रखे हों, किन्तु प्राणहीन वस्तु का मूल्य ही क्या? मूल्य तो प्राणों का ही होता है। सुन्दर-से-सुन्दर और प्रिय-से-प्रिय अपने परिजन को भी प्राणहीन होने पर उसके निकट-से-

निकट कुटुम्वी जन श्मशान में ले जाकर धधकती चिता में फूंक आते हैं। इसलिए इसे पत्नी-रूप में प्राप्त करने का हक तो मेरा ही है।"

वहुत वाद-विवाद हुआ, लेकिन वे लोग आपस में किसी भी निर्णय पर नहीं पहुंच सके। कोई भी मित्र अपना हक छोड़ने के लिए तैयार नहीं था। वाद-विवाद वढ़ता ही गया और आपस में कुछ निर्णय नहीं हो सका।

अन्त में वे राजा के पास गये। राजा ने सारी कथा सुनी तो उसे लगा कि यह मामला तो कच्चे सूत की तरह उलझा हुआ है। इसका निर्णय अपने वश का रोग नहीं। अतः उसने पंडितों की एक सभा वुलाई। इन पंडितों ने वारी-वारी से पांचों की वात सुनकर यह निर्णय दिया कि खाती ने निर्माण किया, इसलिए वह ब्रह्मा हुआ। ब्रह्मा के लिए तो सारे लोग सन्तान के रूप में हैं इसलिए इसका दावा पिता होने का हो सकता है, पति होने का नहीं। दर्जी और सुनार ने कपड़े और आभूपण दिये, तो शुरू में लड़की ससुराल जाती है तव उसे कपड़े और गहने पीहर वाले देते हैं, अतः इन दोनों का भी दावा भाई के रूप में हो सकता है। यह रमणी इनकी वहिन हो सकती है, पत्नी नहीं। ब्राह्मण ने मंत्र फूंका, तो मन्त्र देना गुरु का काम है; अतः यह ब्राह्मण की शिष्या मानी जा सकती है, पत्नी नहीं। केवल लाख की चूड़ियां ही एक ऐसा चिह्न है, जो पति के यहां से आता है। सुहाग का चिह्न देने का अधिकारी पति ही होता है। अतः पत्नी तो यह लखारे की ही मानी जा सकती है--ऐसा कहकर उन्होंने उस रमणी को लखारे की पत्नी ठहराया।

लखारा अपनी पत्नी-सहित खुशी-खुशी घर चला आया। वाकी चारों मित्र मुंह ताकते रह गये।

पंडितों के न्याय से कोई पाठक सहमत नहीं हो, तो वह अपनी बुद्धि के अनुसार अपना मन राज़ी करने को भले ही दूसरा निर्णय भी ले सकता है, लेकिन वह निर्णय तो केवल मन का निर्णय ही होगा, क्योंकि रमणी तो लखारे के साथ जा चुकी है—"रमैयो लाड़ी ले गयो !"

२६ 'सूत्यां की तो पाड़ा ई जणै'[1]

जो आदमी असाववान रहता है और असावधानी के कारण अपना नुकसान करता है, उसके लिए उपर्युक्त कहावत काम में लाई जाती है। इसके पीछे जो कहानी है, वह इस तरह है :

एक जाट था। उसके दो बेटे थे। जाट बूढ़ा हुआ तो उसने सोचा कि इन दोनों भाइयों को यदि अपने सामने ही अलग-अलग कर दूं, तो वाद में आपस में हिस्से-पांती को लेकर वखेड़ा नहीं होगा। यह सोचकर उसने अपनी सारी खेती की जमीन, कुएं, गाय-भैंस, ऊंट-बैल, अनाज-दाना और नकद जो कुछ था, वह दोनों को वरावर-वरावर वांट दिया। रहने को जो 'गुवाड़ी' थी, वह भी वरावर-वरावर के दो हिस्से करके उन्हें सौंप दी और बेटों से कह दिया कि आज से अलग-अलग खेती करके अपना-अपना कमाओ और खाओ।

दोनों भाइयों ने सहर्ष इसे स्वीकार कर लिया, क्योंकि पांती विलकुल निष्पक्ष भाव से की गई थी। जाट ने बेटों से यह भी कह दिया, "मैं एक वर्ष एक के साथ रहूंगा और एक वर्ष दूसरे के साथ।"

अलग-अलग होने के कुछ ही वर्ष वाद चौधरीजी तो परलोक सिधार गये और रह गये उनके वहू-बेटे और उनकी काची-पाकी संतानें। छोटे भाई की वहू चतुर थी और चंट भी। वड़े भाई की वहू थोड़ी भोली थी और अल्हड़ भी; लेकिन देवरानी-जेठानी का संवंध एक तरह से ठीक ही निभ रहा था।

एक वार की वात कि दोनों की भैंसें एक साथ ही व्याने वाली थीं, सो वे दोनों ही रखवाली पर वैठी थीं। रात को थोड़ी देर हो गई, तो वड़ी ने अपने अल्हड़ स्वभाव के अनुसार कहा, "वहू, तुम वैठी ही हो, एक भैंस की रखवाली की, जैसी ही दो की। मेरी भैंस ब्यावे, तव मुझे जगा देना।"

देवरानी ने 'हां' भर ली और जेठानी सो गई। संयोग की वात कि दोनों भैंसें एक साथ ही ब्याईं। वड़ी की भैंस पाड़ी लाई और छोटी की पाड़ा। चूंकि पाड़े की अपेक्षा पाड़ी अधिक मूल्यवान होती है, सो छोटी ने तुरन्त

1. "सोई हुई की (भैंस) तो पाड़ा ही जनेगी।"

अपना पाड़ा जेठानी की भैंस के नीचे सरका दिया और जेठानीजी वाली भैंस की पाड़ी अपनी भैंस के नीचे सरका ली। फिर जेठानी को जगाया और बोली, "आपकी भैंस तो पाड़ा लाई है और मेरी वाली पाड़ी।"

एक पड़ौसी सारी हरकतें देख रहा था। उसने उपर्युक्त वाक्य कहा, जो आज भी कहावत के रूप में प्रचलित है। पड़ौसी का कहा हुआ वाक्य सुनकर जेठानी का माथा तो ठनका, लेकिन अपने उदार स्वभाव के कारण वह कुछ बोली नहीं। फिर भी उसे ऐसा लगा कि उदारता अच्छी चीज है सही, लेकिन जीवन में व्यावहारिक सावधानी रखने की भी उतनी ही जरूरत है। ठगना तो बुरा है ही, लेकिन ठगाना भी अच्छा नहीं है। यों जान-बूझकर अपने हाथ से कोई किसी को कितना भी दे दे, लेकिन उसे कोई ठगकर ले जाय, ऐसा नहीं होना चाहिए और उसे यह कहावत याद आई, "लेखा जौ-जौ, बख्शीश सौ-सौ।"

३० मृगशिरा

एक मृगी पानी पीने के लिए झरने पर जा रही थी। उसे रास्ते में ही एक बहेलिया मिल गया। उसने मृगी को मारने के लिए तरकस से बाण निकालकर धनुष पर चढ़ाया कि इतने में मृगी बोली, "ठहर, ठहर!"

बहेलिये ने कहा, "क्यों, ठहरने की क्या बात है? मैं आज दिन-भर का भूखा हूं, क्योंकि आज कोई शिकार मेरे हाथ नहीं आया है।"

मृगी ने कहा, "अच्छी बात है। तू मुझे मारकर अपना पेट भर लेना, लेकिन थोड़ी-सी देर तो ठहर जा। मैं अभी पानी पीकर अपने घर तक हो आती हूं और अपने बच्चों को प्यार करके तथा अपने पति को उनकी 'भोलावण'[1] देकर तुरन्त लौट आती हूं।"

१. संभलावन।

बहेलिये ने कहा, "तुम्हारा क्या भरोसा ! लौटकर आओ, न आओ। जान-बूझकर मौत के मुंह में कौन जाना चाहेगा ?"

मृगी ने हँसकर कहा, "मैं मृग-जाति की हूं, मनुष्य-जाति की नहीं। छल, कपट, दम्भ, पाखण्ड, हिंसा आदि मनुष्यों में होते हैं, हमारी जाति में नहीं। मृग-जाति निरीह और निर्दोष होती है। हम लोग तो स्वच्छंद रूप से वन में विचरते रहते हैं। कभी किसी को कुछ नुकसान भी नहीं पहुंचाते। कुलांचें लगाते हुए अपने सौन्दर्य से पथिकों को सुख पहुंचाते रहते हैं। मरने के बाद या अकारण ही तुम्हारे-जैसों से मारे जाने के बाद भी हमारा चमड़ा इतना पवित्र माना जाता है कि वह साधु-संतों के बैठने के काम आता है। हमारी नाभि में जो कस्तूरी रहती है, वह तुम्हारी ही जाति के लोगों को बड़े-बड़े रोगों से छुटकारा दिलाया करती है, इसके अलावा वह भगवान के श्रृंगार के काम भी आती है। 'गोपालसहस्रनाम' में कहा है—'कस्तूरी-तिलकं ललाट-पटले...।'

"लेकिन इतना सब होने पर भी मनुष्य ने तो हमारा नाम सुरंग न रखकर 'कुरंग' ही रखा है। खैर, जो है सो है; लेकिन मैं एक बात और कह दूं और वह यह कि तुम मुझे मारोगे, इसका मेरे मन में इतना दुःख नहीं है, जितना इस बात का कि तुमने मेरे ऊपर अविश्वास प्रकट किया है।"

क्योंकि बात सच्ची थी, अतः बहेलिया बहुत शर्मिन्दा हो गया और उसने मृगी पर विश्वास करके उसे जाने दिया। मृगी ने कलकल निनाद करते हुए झरने पर जाकर पानी पिया और फिर वह अपने घर पहुंची, तथा उसने अपने पति और बच्चों से सारी हकीकत कही। बच्चों से यह भी कहा कि तुम आज अन्तिम बार मेरा दूध पीलो। बच्चों ने कहा, "मां, आज तुम उस बहेलिये से वचनबद्ध होकर आई हो, इसलिए तुम्हारा दूध भी मुक्त नहीं है, बद्ध है—'बंध्यो दूध नहीं पीवां ए मावड़ली'।"[1]

मृग ने अपनी पत्नी को समझाते हुए कहा, "तुमने जब वचन दिया है तो बहेलिये के पास जाना है ही, लेकिन तुम्हारे बदले में मैं चला जाता हूं। तुम जिन्दा रहोगी तो बच्चों का पालन-पोषण कर सकोगी। मेरे भरोसे वह

१. "बंधा हुआ दूध नहीं पीयेंगे, ए मां !"

होने का नहीं; अतः तुम घर पर रहो, मैं जाता हूं।"

मृगी बोली, "ऐसा कैसे हो सकता है! क्या आप यह सोचते हैं कि मैं जान-बूझकर अपने लिए वैधव्य को निमन्त्रण दूंगी?—'जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते, पिय बिन पियहिं तरनिहु ते ताते'; 'जिय विनु देह नदी विनु वारी, तैसिअ नाथ पुरुष विनु नारी'।"

दोनों में बहुत वाद-विवाद हुआ, लेकिन न मृग ने मृगी के बिना ज़िन्दा रहना स्वीकार किया और न मृगी ने मृग के बिना। अब जब दोनों ही जाने लगे तो मृग-शावकों ने कहा, "हमें किसके भरोसे छोड़े जा रहे हैं? हम भी आपके साथ ही चलें। जो आपकी गति, सो हमारी गति!"

चारों ही प्राणी बहेलिये के पास पहुंचे। मृगी ने कहा, "बहेलिये, तुम्हें मैं अपने लौटने का वचन देकर गई थी, सो आ गई हूं और अपने साथ तीन प्राणी और भी ले आई हूं। तुम प्रसन्नतापूर्वक हम चारों का शरीर अपने तीक्ष्ण बाण से वेधकर अपनी और अपने परिवार के लोगों की क्षुधा शान्त कर सकते हो।"

बहेलिये ने धनुष पर बाण चढ़ाया तो सही, लेकिन चला नहीं सका। मृग-जाति की सत्यता और इस परिवार के सदस्यों के आपसी प्रेम की पराकाष्ठा पर वह मुग्ध हो गया और उसे स्वयं पर अत्यन्त ग्लानि हुई। बाण धनुष पर चढ़ा-का-चढ़ा ही रह गया और भगवान ने प्रसन्न होकर उस मृग-परिवार को तथा साथ ही उस बहेलिये को भी अमर कर दिया तथा ऐसा करके उन्हें आकाश में ध्रुव की तरह स्थिर कर दिया।

नक्षत्र-शास्त्रियों का कथन है कि आकाश में एक ऐसा तारा-समूह है, जिसकी आकृति इस तरह की है कि बहेलिया धनुष पर बाण चढ़ाये खड़ा है और सामने दो बड़े तथा दो छोटे मृग भी खड़े हैं। कहते हैं, नक्षत्रों का जानकार कोई भी आदमी किसी को भी वह तारा-समूह दिखावे तो सारा दृश्य बहुत ही स्पष्ट दीखता है। इसी तारा-समूह को ज्योतिषशास्त्र में 'मृगशिरा' कहते हैं।

३१ राजा भोज और चार चोर

एक रात को उज्जैन नगरी में चार चोर चोरी करने निकले। उन दिनों राजा भोज रात्रि में, अक्सर छद्म-वेश में, शहर की गतिविधि देखने जाया करता था। उस रात को जव राजा भोज इस तरह घूम रहा था, तो सहसा उसकी मुलाकात इन चारों चोरों से हो गई। भोज ने पूछा, "तुम कौन हो और इस सांय-सांय करती अंधेरी रात में कहां और क्या करने जा रहे हो ?"

उन्होंने कहा, "हम तो चोर हैं, लेकिन तुम कौन हो ?"

राजा वोला, "यह तो खूव रही ! भगवान संयोग मिलाता है तव यों मिलाता है। मैं भी चोर हूं। आज रात को हम पांचों आदमी मिलकर चोरी पर निकलेंगे। जो कुछ धन हाथ लगेगा, उसमें अपन पांचों का वरावर हिस्सा रहा।"

चोरों ने कहा, "तुममें क्या गुण है ? हम तुम्हें साथ क्यों लेने लगे और तुम्हें क्यों हिस्सा देने लगे ?"

राजा ने कहा, "पहले तुम वताओ कि तुममें क्या-क्या गुण हैं ? फिर मैं भी अपना गुण वताऊंगा। तुम गुणी हो, तो निपट गुणहीन मैं भी नहीं हूं।"

इस पर उन चारों में से एक चोर ने कहा, "मैं आंख वन्द करके वता सकता हूं कि धन कहां पड़ा है।"

दूसरे ने कहा, "मुझे देखते ही सारे पहरेदारों को गहरी नींद आ जाया करती है।"

तीसरे ने कहा, "मैं जिस ताले या तिजोरी की तरफ उंगली उठा दूं, वह तुरन्त अपने-आप खुल जाता है।"

चौथे ने कहा, "मैं जिस व्यक्ति को एक वार भी देख लूं और उसे चाहे जितने अंधेरे में ही मैंने देखा हो, दूसरी वार देखते ही तुरन्त पहचान लेता हूं।"

राजा ने कहा, "फिर तो हमें धन मिलने में कोई अड़चन आने ही नहीं पायेगी।"

चोरों ने कहा, "सो तो ठीक है, लेकिन तुम भी तो अपना गुण बताओ, जिसके बल-बूते पर तुम हमसे हिस्सा लेना चाहते हो।"

राजा बोला, "न्यायाधीश के सामने मैं जाकर खड़ा हो जाऊं तो उसकी मति फिर जाय और वह फांसी दी हुई सजा को भी रद्द कर दे।"

चोरों ने कहा, "तब तो ठीक है, अब पकड़े जाने पर सजा का भय भी नहीं रहा।"

पांचों निकले चोरी करने के लिए। पहले चोर ने आंखें बन्द करके बताया कि राजा के तहखाने में फलां जगह माल-ही-माल पड़ा है। पहले वहीं चला जाय।

पांचों चले राजा के तहखाने में चोरी करने। वहां संगीनों का पहरा था। दूसरा चोर आगे बढ़ा तो सारे पहरेदार स्वत: ही प्रगाढ़ निद्रा में लीन हो गये। अब आगे बढ़ा तीसरा चोर, तो जितनी भी आलमारियां आदि थीं, उन सबके ताले अपने-आप खुल गये।

चोरों ने मन भरकर धन बटोरा और गांठों में बांधकर बाहर निकल आये। दूर जंगल में लाकर सारा धन एक गहरा गड्ढा खोदकर गाड़ दिया और यह तय किया कि कल इसे आपस में बांट लेंगे।

चारों चोर अपने-अपने घर चले गये। राजा भी अपने महल में आकर सो गया।

प्रात: होते ही हल्ला हुआ कि तहखाना टूट गया है और बहुत-सा धन चोरी चला गया है। पहरेदारों को बुलाया गया। पूछने पर उन्होंने कहा, "महाराज, हमें तो कुछ पता भी नहीं कि यह चोरी कब और कैसे हुई? दोषी हम जरूर हैं और इसके लिए उचित सजा पाने से भी हम इन्कार नहीं करते, लेकिन सही बात तो यह है कि हम सारे लोगों को एक साथ ही ऐसी गहरी निद्रा आ गई, जैसे कुछ जादू हुआ हो।"

विशेषज्ञों ने बताया कि ये ताले इतने मजबूत हैं और इतनी कारीगरी से बनाये गये हैं कि न तो सहज ही तोड़े जा सकते हैं, न इन्हें खोलने के लिए दूसरी चाबी ही बनाई जा सकती है। तब सवाल उठा कि आखिर यह कांड हो कैसे गया?

राजा ने कहा, "जो हुआ सो हुआ, किंतु ऐसा लगता है कि कोई दैवी

चमत्कार या दैवी घटना हुई है, लेकिन फिर भी इन चोरों का पता लगाने का प्रबन्ध तो होना ही चाहिए। चारों तरफ आदमी दौड़ाये गये। संयोग की बात कि चारों चोर एक ही जगह पकड़ में आ गये। वे न्यायाधीश के सामने पेश किये गये और न्यायाधीश ने उन्हें सूली की सजा का हुक्म दे दिया।

चोरों को सूली पर लटकाने के लिए ले जाया जाय, इसके पहले राजा भोज स्वयं न्यायाधीश की बगल में आकर बैठ गया। राजा को देखते ही चौथा चोर जोर से चिल्लाया, "अरे तुम हो ! अच्छी बात है—हम चारों आदमियों ने तो अपने करतब, अपनी कला, तुम्हें दिखा दी, अब तुम इस तरह पत्थर की भांति चुपचाप बैठे क्या देखते हो ! तुम भी अपना करतब दिखाओ—'फिर किस दिन आयेगी दोस्ती काम तेरी'।"

सुनकर राजा हँसा और न्यायाधीश को कहकर उनकी सूली की सजा रद्द करवा दी। चोरों को अपने पास बैठाया और उनसे कहा कि तुम-जैसे गुणी आदमियों को चोरी-जैसा नीच धन्धा कभी नहीं करना चाहिए, बल्कि सुसंस्कृत नागरिक की तरह जीवन बिताना चाहिए। तुम लोग आज से मेरे पास रहो !"

चोरों ने उस दिन से चोरी करना छोड़ दिया और वे राजा के पास सम्मानपूर्वक रहने लगे।

३२ दो बहुएं

एक बनिया था। वह बहुत धनी तो नहीं था, लेकिन ठीक-ठाक पैसे वाला था। वह दुकानदारी के साथ बोरगत का काम भी किया करता था। उसके दो लड़के थे और जब उसको बुढ़ापा आया, तो उसने अपनी सारी सम्पत्ति अपने दोनों लड़कों में बराबर-बराबर बांट दी। अपने पास कुछ भी नहीं रखा।

'मूर्ख-शतक' में सौ प्रकार के मूर्ख गिनाये गये हैं, जिनमें एक नाम उसका भी है, जो बूढ़ा होते-होते अपनी सारी सम्पत्ति वेटों में बांट दे और अपने लिए कुछ भी प्रावधान या व्यवस्था न रखे।

अव तो वह बूढ़ा भी मूर्ख-शतक में गिनाये हुए मूर्ख की तरह वहू-वेटों के अधीन हो गया। न तो उस बूढ़े का घर में कोई सम्मान ही रहा और न उसे किसी प्रकार का सुख-आराम ही। एक महीने एक वहू मन मार-कर रूखी-सूखी रोटियां दे दिया करती और दूसरे महीने दूसरी-वहू। वे लोग जो कुछ दे देते, वह खा लेता। होते-होते वह वहू-वेटों के लिए इतना भारी हो गया कि वे ऐसा मनाने लगे कि बूढ़ा मर जाय तो खर्च से पिंड छूटे।

एक दिन की वात कि उस बूढ़े का एक मित्र उससे मिलने आया। वह आदमी सयाना था। उसने जव अपने मित्र से उसके हाल-चाल पूछे और सारी बातें सुनीं, तो उसे दुःख हुआ। लेकिन उसने अपने बूढ़े मित्र को इस दुःख से छुड़ाने की तुरन्त एक युक्ति विचार ली। वह मित्र बूढ़े से बोला, "तुम तो मैं कहूं, वैसा करो, और फिर देखना कि ये दोनों ही वहुएं तुम्हारा कितना आदर करने लगती हैं।"

ऐसा कहकर उस आगन्तुक मित्र ने जोर-जोर से वहुओं को सुनाते हुए बूढ़े से कहा, "मेरे दोस्त, तुम्हारी उस धन वाली पेटी को, जो मेरे पास पड़ी है, पड़े इतने दिन हो गए, अव अपने पास मंगा क्यों नहीं लेते? जो भी वहू तुम्हें ज्यादा सुख से रखे और जो तुम्हारा ज्यादा सम्मान करे, उसे देकर नक्की करो। मैं अव ज्यादा दिन अपने पास जोखिम पड़ी रखना नहीं चाहता।"

बुढ़ऊ ने कहा, "तुम धीरज रखो, मैं थोड़े दिन और परीक्षा कर देख लेता हूं कि कौन-सी वहू मुझे ज्यादा अच्छा खाना देती है, और कौन-सी वहू मेरी ज्यादा सेवा करती है, ज्यादा सम्मान देती है। उसके वाद पेटी तो मंगानी ही है, मैं स्वयं ही मंगा लूंगा।"

दोनों वहुएं कान लगाकर सुन रही थीं। उन्हें इस वात का विश्वास हो गया कि ससुरजी के पास तो अब भी काफी धन शेष है। उन दोनों ने अपने-अपने मन में यह तय किया कि कल से ससुरजी की सेवा ज्यादा-से-ज्यादा करनी है। अब उन दोनों को ही यह लोभ हो गया था कि जो भी वहू

ससुर की सेवा करने में वाजी मार लेगी, उसे ही वह सारी सम्पत्ति मिलने वाली है।

बूढ़े का मित्र अपने घर चला गया और उसने एक वड़ी-सी लोहे की पेटी लाकर उसमें कंकड़-पत्थर भरकर अपने पास रख ली और ताला वन्द करके चावी हमारे पूर्व-परिचित वुढ़ऊ को दे आया।

दूसरे दिन से तो ससुर की अधिक सेवा करने में दोनों वहुओं में होड़-सी लग गई। कभी एक वहू स्नान के लिए गर्म पानी भरकर ले आती तो कभी दूसरी वहू गर्म-गर्म हलवा वनाकर खिलाती। कभी एक वैठकर पांव दवाती, तो कभी दूसरी पायताने वैठकर तरह-तरह की चिकनी-चुपड़ी वातों से ससुरजी को खुश करने की कोशिश करती। कभी एक वहू अच्छा-सा गुदगुदा गद्दा उनके पलंग पर विछा जाती तो कभी दूसरी वहू रेशमी रजाई उनके पायंताने पर रख आती। गरमी के दिनों में दोनों वहुएं अपने हाथ से पंखा डुलाया करतीं। मतलव यह कि उस वूढ़े आदमी को तो जितने आराम की जरूरत थी, उससे कहीं ज्यादा आराम अव मिलने लगा था।

कुछ दिन वाद उस वूढ़े वनिये का वह मित्र फिर आया और धीरे-से उसके हाल-चाल पूछे तो वूढ़े ने कहा. "तुम्हारी दवा ने, तुम्हारी युक्ति ने चमत्कार कर दिखाया है। मैं इतना सुखी हूं कि स्वर्ग भोगने-जैसा आनन्द आ रहा है।"

दो-तीन वरस वीते होंगे कि वूढ़ा वीमार हो गया। अव तो दोनों वहुओं ने और भी अधिक खुशामद और सेवा शुरू कर दी। दोनों ही अलग-अलग यह पूछा करतीं, "मैंने सुना है कि आपके पास काफी धन है, वह आप मुझे ही देंगे न? अपनी जान में मैंने आपकी अच्छी-से-अच्छी सेवा की है और आशा रखती हूं कि आपको सन्तुष्ट कर सकी होऊंगी।"

वुढ़ऊ दोनों को ही 'हां-हां' कह दिया करता।

एक दिन ऐसा आया कि पीपल का पका हुआ पत्ता जिस तरह अपनी डाल छोड़ देता है, उसी तरह यह वुढ़ऊ महाशय भी संसार छोड़ गये। अव दोनों वहुओं ने वैठकर वात की और यह तय किया कि चूंकि ससुरजी मरती दफे किसीको भी अपने धन के वारे में कुछ कहकर नहीं गये हैं,

इसलिए उनके मित्र के पास जो पेटी पड़ी है, वह मंगाकर अपने को आधा-आधा धन बांट लेना चाहिए।

दोनों बहुएं पहुंचीं ससुरजी के मित्र के पास और बोलीं, "काकाजी, आपके पास हमारे ससुरजी की जो पेटी पड़ी है वह हमें दे दीजिये, ताकि हम दोनों उस धन को आधा-आधा बांट लें।"

काकाजी ने कहा, "तुम्हारे ससुर ने एक पेटी मेरे पास रखी तो जरूर थी, लेकिन उसमें क्या है और क्या नहीं, यह उन्होंने मुझे पहले कभी नहीं बताया। चाबी उनके सिरहाने ही पड़ी है, मैंने वह पेटी खोलकर आज तक देखी नहीं। पेटी जैसी उन्होंने मुझे सौंपी थी, वैसी-की-वैसी पड़ी हुई है। तुम लोग उसे ले जाओ और उसमें जो कुछ है, अपना-अपना बांट लो।"

बहुओं ने बहुत आशा के साथ उस पेटी को अपने घर ले जाकर खोला और जब उन्हें उसमें कंकड़-पत्थर भरे हुए मिले, तो वे लगीं अपना सिर पीटने और छाती कूटने। कभी तो छोटी वाली कहती, "जिठाणीजी, मैं लुट गई", और कभी जिठाणी कहती, "बहू, तू क्या, मैं लुट गई!"

दोनों ही अपनी-अपनी तकदीर को रोने लगीं।

एक कहती, "मैं कड़ाके की सर्दी में उठ-उठकर उनके स्नान के लिए पानी गर्म किया करती थी और उन्हें खाने-पीने की किसी बात की कमी न रहे, इसका मैं ज्यादा-से-ज्यादा खयाल रखा करती थी।"

दूसरी कहती, "मैंने ससुरजी के लिए ऐसी रेशमी रजाई बनाकर दी थी जैसी मेरे खुद के पास भी नहीं है तथा कई बार सरदी के दिनों में उन्हें बादाम का हलवा भी खिलाया करती थी। लेकिन हाय रे, हाथ क्या लगा, सिर फोड़ने के लिए ये पत्थर!"

दोनों ही कहतीं, "कुछ प्राप्त होने की आशा में ही तो इतना खर्च उन पर किया था तथा उनकी इतनी सेवा की थी। पर हाय रे दुर्भाग्य! ससुरजी ने हमें बहुत ही छला, बहुत ही ठगा।"

हाय-हाय करते दोनों का ही चित्त 'उपड़' गया और दोनों ही 'हाय, मैं लुट गई', 'हाय, मैं लुट गई' कहती फिरने लगीं।

३३ ||||| 'बुद बिन बिद्या बापड़ी'[1]

चार मित्र थे। चारों काशी से संस्कृत पढ़कर अपने गांव को लौट रहे थे। एक था व्याकरणाचार्य, दूसरा ज्योतिषाचार्य, तीसरा आयुर्वेदाचार्य और चौथा न्यायाचार्य। रास्ते में जिस नगर से होकर गुजरना था, वहां पहुंचे, तबतक दोपहर का समय होने के कारण धूप तेज़ हो चली थी, इसलिए उन्होंने वहां रुककर विश्राम करना ठीक समझा। सोचा, जब धूप कम हो जायगी तब आगे चल पड़ेंगे। इतनी देर यहां खाना-पीना तथा विश्राम कर लें।

ऐसा सोचकर वे एक धर्मशाला में ठहर गये। उस नगर का राजा विद्वानों का कद्रदान था। उसे जब पता चला कि चार विद्वान् अपने नगर में आकर धर्मशाला में ठहरे हैं, तो उनको भोजन के लिए चावल-दाल भेज दिया तथा कुछ नकद पैसे भी, जिससे वे अपनी ज़रूरत-भर का घी और साग-सब्जी खरीद सकें। इन तथाकथित विद्वानों के साथ एक घोड़ी भी थी। उन्होंने उस घोड़ी पर अपने बिस्तर, पुस्तकें तथा पूजा-पाठ की सामग्री लाद रखी थी। चारों ने मिलकर यह तय किया कि अपन को अलग-अलग काम बांट लेने चाहिए। तब एक मित्र ने, जो ज्योतिष-विद्या का आचार्य था, कहा, "घोड़ी तो मैं चरा लाऊंगा, क्योंकि अगर वह खो भी गई तो मैं ज्योतिष-विद्या द्वारा पता लूंगा लूंगा कि वह किस दिशा में गई है और उसे खोज लाऊंगा।"

जो व्यक्ति आयुर्वेद में निष्णात था उसने कहा, "साग-सब्जी मैं खरीद लाऊंगा, जिससे कोई ऐसा साग नहीं आ जाय, जो स्वास्थ्य के लिए हानिकर हो।"

न्यायशास्त्र में निष्णात मित्र ने कहा, "घी मैं खरीद लाऊंगा।"

व्याकरणाचार्य महोदय ने रसोई बनाने का काम अपने जिम्मे लिया। काम बंट गये। अब उनका नतीजा सुनिये।

न्यायशास्त्री महोदय बाजार से घी खरीदकर अपने डेरे के लिए रवाना

1. 'बुद्धि बिना विद्या कुछ नहीं।'

हुए, तो चलते-चलते उनके मन में यह शंका हुई कि 'घृताधारं पात्रं' वा 'पात्राधारं घृतं ?' कुछ देर तो वह सोचते रहे, लेकिन जब कुछ तय नहीं कर पाये तो सोचा कि इस पात्र को उलटकर क्यों न देखा जाय, और उन्होंने ऐसा ही किया। पात्र को उलटते ही घी तो ढुलना ही था। घी ढुलककर मिट्टी में मिल गया, लेकिन न्यायशास्त्रीजी की शंका का समाधान हो गया और वह खुश हो गये।

जो महाशय आयुर्वेद के ज्ञाता थे, वह गये सब्जी लाने बाजार में और एक-एक सब्जी को देखकर उनके गुण-दोष अपने-अपने पढ़े हुए ग्रन्थ के अनुसार मन में गुनगुनाने लगे। उसने तोरूं, भिण्डी, करेला, परवल आदि कई तरह की तरकारियां देखीं, लेकिन एक-न-एक अवगुण हर सब्जी में विद्यमान पाया। अतः वह कुछ भी खरीदे बिना सब्जी बाजार से बाहर निकल आये। बाहर आकर देखा तो एक औरत नीम की पत्तियां बेच रही थी। सारा शास्त्र याद करके उन्होंने देखा तो पाया कि यह निर्दोष है, अतः उनके पास जितने पैसे थे, उनकी ढेर सारी नीम की पत्तियां खरीद लीं और उनके मन में यह सन्तोष हो गया कि मैंने बिलकुल निर्दोष वस्तु ही खरीदी है।

जो महाशय व्याकरणाचार्य थे, उन्होंने चावल-दाल मिलाकर खिचड़ी बनाने के लिए बटलोई चूल्हे पर चढ़ा दी। खिचड़ी पकने लगी तो आवाज होने लगी—'खदबद-खदबद।' थोड़ी देर तक तो व्याकरणाचार्य सुनते रहे, जब उन्हें वह बर्दाश्त नहीं हुई, तो एक चम्मच से बटलोई को पीटते हुए बोले, "अशुद्धं अशुद्धं !" और फिर बोले, "शुद्ध बोलो—'खंदबद' बोलो, 'खदबद' नहीं। अशुद्ध पाठ तो हिंसा है। यह क्या 'खदबद-खदबद' लगा रखी है! अनुस्वार होना चाहिए; 'सत्यं वद, धर्मं चर' पाठ है, 'सत्य वद' तो नहीं।" लेकिन बटलोई ने तो पंडितजी की बात पर कुछ ध्यान नहीं दिया। वह तो उसी तरह अशुद्ध पाठ बोलती रही। व्याकरणाचार्य महाशय ने फिर दो-तीन चम्मच जोर-जोर से उसके शरीर पर लगाये और धमकीभरी आवाज में बोले, "देखो, मैं तुम्हें कितनी बार सिखा चुका हूं, लेकिन तुम हो कि कुछ सुनती ही नहीं! या तो अपना पाठ शुद्ध करो, नहीं तो अब मैं बर्दाश्त नहीं करूंगा। तुम्हें चूल्हे में झोंक दूंगा, क्योंकि शास्त्र में कहा गया है

कि "अशुद्ध वोलने वाले के मुंह में राख।" फिर भी जव 'खदवद-खदवद' की आवाज उसी तरह आती रही तो व्याकरणाचार्य महोदय ने उठाकर उस वटलोई को चूल्हे में औंध दिया। आवाज वन्द हो गई तो पंडितजी को संतोष हो गया कि चलो, अच्छा हुआ, वार-वार अशुद्ध पाठ तो कान में नहीं पड़ेगा।

उधर ज्योतिषाचार्य महोदय का हाल भी सुन लीजिये। वह जाकर एक जगह ठण्डी-सी छाया देखकर सो गये और घोड़ी को छोड़ दिया चरने के लिए। घोड़ी चरती-चरती एक पहाड़ी पर चढ़ गई और दूसरी तरफ उतर गई। ज्योतिषीजी की नींद खुली तो घोड़ी उनके सामने नहीं थी। उन्होंने हँसकर कहा, "भागकर जायेगी कहां? अभी पता लगा लेता हूं।" उन्होंने पांसे फेंककर अपनी ज्योतिष-विद्या से जान लिया कि घोड़ी पहाड़ी के ऊपर चढ़कर नीचे उतर गई है। ज्योतिषीजी ने सोच लिया कि इतनी देर में जो घोड़ी इतनी ऊंची पहाड़ी पर भी चढ़ गई और परले पार भी उतर गई तो उसका क्या ठिकाना! कितनी दूर निकल गई होगी, उसे पकड़कर लाने की कोशिश वेकार है। अतः वह घोड़ी गँवाकर और सन्तोष लेकर धर्मशाला में लौट आये।

चारों मित्रों ने एक-दूसरे को आपवीती सुनाई और सन्तोष करके आराम करने के लिए सो गये। उधर राजाजी ने उनको वुलाने के लिए आदमी भेजा और उस आदमी से कहा, "जाओ, अगर वे लोग भोजन आदि से निवृत्त हो गया हों, तो उन्हें दरवार में वुला लाओ। उन सवका यथोचित्त आदर-सत्कार किया जायगा।"

आदमी ने जाकर धर्मशाला में देखा कि घोड़ी तो वहां है नहीं, खिचड़ी की वटलोई चूल्हे में औंधी पड़ी हुई है। कोई भी भोजन के चिह्न वहां दीखे नहीं, केवल नीम की पत्तियां पड़ी थीं। राजा का भेजा हुआ आदमी खड़ा रहा और जव उन विद्वानों की नींद खुली तो उन्हींके मुंह से सारी जानकारी ले ली। राजाजी को जाकर सारी कथा सुनाई, तो राजाजी को विश्वास हो गया कि ये लोग हैं तो विद्वान, लेकिन व्यावहारिकता से विल्कुल कोरे हैं। तव राजाजी ने भोजन वनवाकर धर्मशाला में भेजा और उनको भोजनादि से तृप्त करके दरवार में वुलवाया। कुछ दिन उनको

अपने पास रखकर सुसंस्कृत और व्यावहारिक वनाया और उसके वाद उनको अपने-अपने घर भेज दिया, जहां जाकर वे वहुत सफल और सुयोग्य नागरिक सिद्ध हुए।

मारवाड़ी में एक कहावत है—'मुलक विना रूप अडोलो' (अगर किसी के चेहरे पर मुस्कराहट या हँसी न हो तो वह सुन्दर होने पर भी वेडौल दिखाई देगा)। इसी तरह दूसरी कहावतें भी हैं। जैसे—'पढ्या पण गुण्या कोनी'[1], 'वुद विन विद्या वापड़ी।' संस्कारहीन शुष्क विद्या मनुष्य को सुशोभित नहीं कर सकती।

ऐसी शुष्क विद्या को शास्त्रकारों ने 'श्वान-पुच्छवत्'[2] वताया है, जो कि शरीर पर वैठे हुए मक्खी-मच्छरों को उड़ाने के काम में भी नहीं आती। इस तरह के विद्वानों को 'वेदिया ढोर' भी कहा जाता है, याने वे ज्ञान का केवल वोझ ही ढोते हैं।

३४ ||||| कल नहीं, आज

एक कंजूस आदमी था। उसके पास पैसे तो वहुत थे, लेकिन देने के नाम पर किसी प्यासे आदमी को पानी भी अपनी उमर में नहीं पिलाया था। उसकी पत्नी अपने पति के इस तरह के कंजूस स्वभाव के कारण वहुत दुःखी रहती थी, लेकिन वेचारी करे तो क्या करे! उसने अपने पति से कई वार कहा कि पैसा तो किसीको देने के काम आवे तो ही उसका उपयोग है। धन की महिमा तो एक हाथ से दूसरे हाथ और दूसरे हाथ से तीसरे हाथ—यों फिरते रहने, वहते रहने, में ही है। तिजोरी में पड़ी लक्ष्मी का तो सांस घुटा करता है। लेकिन पत्नी कितना भी कहे, उसकी वात का कंजूस पर कोई असर नहीं होता था। आखिर उस कंजूस की पत्नी ने पति से कहा, "और तो

१. पढ़े तो सही, पर गुने नहीं। २. कुत्ते की मुड़ी हुई पूंछ की तरह।

जाने दो, एक ब्राह्मण तो आप मेरे कहने से जिमा ही दो।"

वह वहुत ही पीछे पड़ गई तो पति ने 'हां' भर ली, लेकिन पांच-चार दिन वीत गये और ब्राह्मण नहीं जिमाया गया, तो कंजूस की पत्नी ने अपने पति से उसके किए हुए वादे की वात याद दिलाई और कहा, "आप किसी को कुछ भी नहीं देकर जो पाप कर रहे हैं, वह तो कर ही रहे हैं, इसके साथ यह वचन-भंग का दूसरा पाप और कर रहे हैं।"

ऐसा कहकर वह रोने लगी। कंजूस ने कहा, "अच्छी वात है। तुम जब इतना कहती हो तो कल एक ब्राह्मण को अवश्य जिमा दूंगा।"

पत्नी वोली, "मैं यों तो आपकी वात का विश्वास करूंगी नहीं, आप इस दीवार पर अपने हाथ से लिख दीजिए।"

उस कंजूस आदमी ने दीवार पर लिख दिया—'वामण जीमे कल।'

दूसरे दिन पत्नी ने फिर याद दिलाया तो उसने कहा, "दीवार पर तो कल की वात लिखी है, आज की तो नहीं।" पत्नी थी चतुर, इसलिए उस दिन तो कुछ वोली नहीं, लेकिन रात के वक्त 'कल' शब्द की जगह 'आज' लिख आई। दूसरे दिन अपने पति को ब्राह्मण जिमाने की वात याद दिलाई तो उसके पास तो उत्तर तैयार ही था। वह बोला, आज की वात थोड़े ही है, कल की वात है। चलकर दीवार पर लिखा हुआ देख लो।"

पत्नी ने कहा, "अच्छी वात है, चलिये।" जब जाकर दीवार पर देखा तो लिखा पाया—'ब्राह्मण जीमे आज'।

पढ़कर वह वेचारा सूम तो सुन्न हो गया। उसके पास वच निकलने का कोई रास्ता नहीं था, इसलिए उसने अपनी पत्नी से कहा "अच्छी वात है, तुम रसोई वनाओ, मैं अभी एक ब्राह्मण को वुला लाता हूं।"

सूम निकला ऐसे ब्राह्मण की खोज में जो मरियल-सा हो और वहुत कम खाये। एक गली से दूसरी गली में और दूसरी से तीसरी में वह चक्कर काटने लगा। एक ब्राह्मण, जो कि वहुत चालाक था, सारी वात ताड़ गया और खांसता हुआ, हांफता हुआ, पेट पकड़कर अपने घर के दरवाजे पर वैठ गया। सेठ उसके घर के पास से गुजरा तो उसे ऐसा लगा कि इस ब्राह्मण को ले चलें तो ठीक रहेगा, क्योंकि यह वहुत कम खायेगा। कंजूस महाशय ने ब्राह्मण को प्रणाम किया और वोला, "महाराज, ऐसे कैसे हो रहे हैं?

खांसी हो गई है क्या ?"

ब्राह्मण ने कहा, "क्या बताऊं, कई दिन से अजीर्ण हो रहा है, पेट दुखता रहता है, खांसी आती रहती है, खाया हुआ हजम नहीं होता। कुछ खाया ही नहीं जाता, मुश्किल से एक पतली-सी रोटी सुबह खाता हूं, वह भी हजम नहीं होती।"

सूम ने मन में तय किया, यह सौदा अपने लिए ठीक रहेगा। पत्नी की बात भी रह जायगी और कुछ खर्च भी नहीं आयेगा।

ऐसा सोचकर ब्राह्मण से बोला, "कृपा करके आज मेरे घर पर भोजन स्वीकार कीजिये।"

ब्राह्मण ने कहा, "निमन्त्रण की आपने भली कही ! मैं तो आपको पहले ही कह चुका हूं कि मुझे अजीर्ण है, इसलिए मुझसे कुछ भी खाया नहीं जाता।" अब तो वह सूम उस ब्राह्मण के और भी पीछे पड़ गया और बोला, "जो भी हो, लेकिन आज तो मेरे यहां ही भोजन करना पड़ेगा।"

ब्राह्मण ने भीतर से इच्छापूर्वक और बाहर से अनिच्छापूर्वक निमंत्रण स्वीकार किया और खांसता तथा हांफता हुआ पेट पकड़े-पकड़े उस सूम के घर पहुंचा।

सूम ने बाहर से ही अपनी पत्नी को पुकारा और कहा कि मैं तो दुकान पर जाता हूं, तुम इन पंडितजी महाराज को अच्छी तरह भोजन करा देना।

सूम चला गया अपनी दुकान पर और उसकी पत्नी ने पंडितजी से कहा, "महाराज, मैं तो मन्दिर को जाती हूं, रसोई बनी हुई पड़ी है, आप भोजन कर लीजिए।"

अब घर में पंडितजी अकेले रह गये। वह रसोई में जितना भी सामान बना हुआ था, सारा-का-सारा खा गये और वापस अपने घर चले गये।

सूम की पत्नी मन्दिर से लौटकर आई और सूम दुकान से, तो यह देखकर दोनों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि इतनी सारी रसोई वह बीमार आदमी खा गया है। सूम की पत्नी ने कहा, "आप थोड़ी देर ठहरें, मैं अभी फिर रसोई बना देती हूं।"

सूम ने कहा, "कैसी रसोई और किसका भोजन ! मैं तो पहले उस दुष्ट ब्राह्मण के घर जाऊंगा। उसने मुझे बुरी तरह छला है, ठगा है। बहाना

वनाता था वीमार होने का और खाना खा गया पांच आदमियों का !"

यह कहकर वह तो जल्दी-जल्दी गया उस ब्राह्मण के घर, लेकिन ब्राह्मण ने पहले ही समझ लिया था कि वह सूम अवश्य आयेगा। इसलिए घर पहुंचते ही वह तो सौर में लेट गया और अपनी पत्नी को दरवाजे पर विठा दिया, जो कि रो-रोकर कह रही थी, "न मालूम आज किस दुष्ट के यहां, किस हत्यारे के यहां, किस पापी के यहां, मेरा पति भोजन करने गया था कि वह आते ही मर गया। मैं तो अभी राज्य में खवर देने जा रही हूं और आज उस मुए को, जिसके यहां ये खाना खाने के लिए गये थे, मैं भी वता दूंगी कि ब्रह्म-हत्या का क्या फल होता है," आदि-आदि।

सूम यह सव सुनकर भोजन वगैरा की वात तो भूल गया और सोचने लगा कि यह कैसी आफत आई। इससे कैसे वचा जाय? अगर यह स्त्री राज्य में चली गई और अपन पकड़े गये तो यह धन तो सारा खतम हो ही जायगा, जेल होगी वह अलग। हो सकता है, सूली-फांसी की सजा भी हो जाय। अतः उसने ब्राह्मणी को पटाना ही ठीक समझा। वह ब्राह्मणी के पास आकर वोला, "भलीमानस, क्यों किसीको गाली देती हो! किसी ने जान-वूझकर तुम्हारे पति की हत्या थोड़े ही की है! जो होना था हो गया। अव तो संतोष करके वैठो। तुम्हारा पति खाना खाने तो मेरे यहां ही गया था, लेकिन इसमें मेरा कुछ भी कुसूर नहीं है। फिर भी चूंकि मेरे यहां भोजन करने से तुम्हारे पति की मृत्यु हुई है, इसलिए मैं तुम्हें क्षति-पूर्ति के के नाम पर सौ रुपये दे देता हूं।"

ब्राह्मणी ने कहा, "आप भी कैसी वातें करते हैं! कहां तो मेरा आदमी मार दिया और कहां सौ रुपये की वात !"

होते-करते एक हजार रुपये में सौदा तय हुआ। सूम ने रुपये चुपचाप ब्राह्मणी को गिन दिये और कह दिया, "किसी के सामने मेरा नाम मत लेना।" ब्राह्मणी ने स्वीकार कर लिया। सूम को तो ऐसा तमाचा पड़ा कि वह जिन्दगी-भर नहीं भूला, लेकिन अभी एक तमाचा इससे भी जोरों का और पड़ना वाकी था।

उस सूम की एक कन्या कुंवारी ही मर गई थी। सूम की पत्नी को वह वहुत प्यारी थी। एक दिन की वात कि वह सूम तो गया हुआ था दूसरे

गांव और वह ब्राह्मण एकान्त देखकर उसकी पत्नी के पास गया और बोला, "मैं स्वर्ग से आया हूं। तुम्हारी लड़की मुझे मिली थी।"

लड़की का नाम सुनकर सूम की पत्नी के मन में इतना वात्सल्य उमड़ा कि वह बावली-सी हो गई और हकलाते हुए पूछा, "पंडितजी, वह कैसी है? राज़ी है न? उसका विवाह हो गया क्या?"

पंडितजी ने कहा, "तुम्हारी कन्या बहुत प्रसन्न है। उसका विवाह अब कुछ ही दिनों में होनेवाला है, लेकिन वह बाई जिस घर में जन्मी है, उसके पास सोने के नाम पर एक छल्ला भी नहीं है। इसलिए बाई ने मुझे यहां भेजा है कि "मेरी मां के पास जाकर तुम थोड़ा-सा गहना ले आओ," और इसीलिए मैं यहां आया हूं। आज ही रात को मैं वापस चला जाऊंगा, अपनी ब्राह्मणी के पास तो मैं गया भी नहीं हूं और न जाऊंगा ही। तुम्हारी बेटी मुझे बहुत प्यारी है, इसलिए उसका मन रखने के लिए मैं इतनी दूर यहां आ गया हूं।"

सूम की पत्नी समझदार होने पर भी अपनी बेटी के प्रति वात्सल्य-भाव के कारण इतनी विह्वल हो गई कि वह सम्भव-असम्भव सब-कुछ भूल गई और सारा गहना लाकर पंडितजी को दे दिया। पंडितजी जिस स्वर्ग से आये थे, उसी स्वर्ग को वापस चले गये।

पांच-सात दिन बाद वह सूम गांव से लौटकर घर आया और अपनी पत्नी से सारी हकीकत सुनी, तो उसने अपनी छाती पीट ली, माथा कूट लिया और बोला, "तुम तो बुरी तरह ठगी गई हो!" वह दौड़ा-दौड़ा गया उस ब्राह्मण के घर, लेकिन वहां न तो ब्राह्मण था, न ब्राह्मणी। घर में ताला पड़ा हुआ था और गली में जो दो-चार कुत्ते बैठे हुए थे, वे सूम को देखते ही जोरों से भूंकने लगे, क्योंकि वह आदमी उन कुत्तों के लिए अपरिचित था। सूम बेचारा किसी तरह जान बचाकर भागा-भागा अपने घर वापस आया।

३५ ||||| राजा और किसान

एक राजा था। वह अपनी रानी सहित रथ पर वैठकर सैर के लिए निकला। शहर से थोड़ी ही दूर गया होगा कि उसकी नजर खेत को जोतते हुए एक किसान पर पड़ी। उन्होंने देखा कि किसान जो हल चला रहा है उसके एक ओर तो मरियल-सा बैल जुता हुआ है, दूसरी ओर जुती हुई है किसान की पत्नी, जो कि अपने पति की तरह ही अस्थि-पंजर मात्र थी। किसान बैल और स्त्री को एक ही तरह हांक रहा था। यह देखकर राजा और रानी के दुःख और आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा।

राजा ने अपना रथ वहीं रोक लिया। वह उतरकर उस किसान के पास गया और वोला, "यह क्या अनर्थ कर रखा है! कहीं मनुष्य को भी पशुओं के साथ जोता जाता है?"

किसान ने कहा, "मेरे पास एक ही वैल है और खेत जोतना जरूरी है। खेत नहीं जोतूं, तो सारे साल खाऊं क्या? इसीलिए मुझे ऐसा करना पड़ रहा है। तू जा, अपना रास्ता ले। मेरा काम मत थका।"

ऐसा कहकर किसान ने अपने वैल और वैल वनी हुई पत्नी को आगे हांक दिया।

राजा ने कहा, "भलेमानस, सुन तो सही।"

किसान वोला, "जो कुछ कहना है, मेरे साथ चलता हुआ कह। तेरे लिए खड़ा रहकर मैं अपना काम नहीं थकाऊंगा।"

राजा ने ऐसा ही किया और वोला, "सुन, तेरे पास एक वैल है, दूसरा मैं देता हूं। इस स्त्री का जुआ तो उतार दे और सामने ही जो रथ खड़ा है वहां तक मेरे साथ चल। उस रथ का एक वैल मैं तुझे दे देता हूं।"

किसान ने अपने वैल और वैल वनी हुई अपनी पत्नी को 'टिटकारी'[1] देकर आगे हांकते हुए कहा, "मैं तुम्हारे साथ वहां तक जाऊं और वापस आऊं, इतनी देर में मेरे काम में जो हर्जा होगा, उसकी पूर्ति कैसे होगी?"

राजा ने कहा, "एक काम कर। अपनी स्त्री का जुआ उतारकर मेरी

१. पशुओं को हांकने के लिए मुंह से निकाली जाने वाली एक विशेष आवाज।

गर्दन पर रख दे। इसे बैल लाने को भेज दे और जितनी देर में यह लौट-कर आए, तबतक हल चलाने का काम मुझसे ले ले।"

किसान की स्त्री ने कहा, "रथ में तुम्हारी पत्नी बैठी है। तुम तो बैल देने की बात कहते हो, लेकिन तुम्हारी पत्नी ने यदि इन्कार कर दिया तो मेरा अपमान होगा।"

राजा ने कहा, "नहीं, ऐसा नहीं होगा।"

किसान ने स्त्री का जुआ उतारकर राजा के कन्धे पर रख दिया और हल पहले की ही तरह चलाने लगा। किसान की पत्नी गई रानी के पास, जो कि सारा दृश्य देख रही थी। किसान की पत्नी ने वहां पहुंचते ही कहा, "तुम्हारे पति ने हमें एक बैल देने की बात कही है और उसे ले जाने के लिए मैं यहांआई हूं।"

रानी ने कहा, "देखो, तुम्हारा बैल है मरियल, और मेरा है हट्टा-कट्टा। इनका साथ निभ नहीं सकेगा, अतः तुम दोनों बैल ही ले जाओ।"

रानी का यह कहना उसी तरह था, जिस तरह कि महाकवि माघ की पत्नी ने एक गरीब ब्राह्मण को अपनी कन्या के विवाह के अवसर पर एक कंगन मांगने पर दोनों उतारकर दे दिये थे और यह कहा था कि भला एक कंगन में कन्या का विवाह कैसे हो सकेगा!

किसान की पत्नी को अप्रत्याशित प्रसन्नता हुई, क्योंकि कहां तो उसके मन में यह शंका थी कि रानी एक बैल भी देगी या नहीं, और कहां रानी ने स्वयं आगे होकर दोनों बैल देने की बात कही!

रानी तुरन्त रथ से नीचे उतर गई और अपने दोनों बैल उस किसान की पत्नी को दे दिये। किसान की पत्नी बैल लेकर अपने खेत पर आ गई। किसान ने राजा और मरियल बैल दोनों के कन्धे से हल का जुआ उतार दिया और उसे नये बैलों के कन्धे पर रख दिया। किसान और उसकी पत्नी तो इतने विह्वल हो गये कि अपने दाता-त्राता को धन्यवाद देने की भी सुध उन्हें नहीं रही।

राजा-रानी को आज अपनी प्रजा के लोगों की सही स्थिति का प्रत्यक्ष दर्शन हुआ, जिससे वे दोनों ही बहुत व्यथित हुए। उनके मन में अपने ऐयाशी-भरे जीवन के प्रति ग्लानि भी हुई। उन्हें तुलसीदासजी की वह

चौपाई याद आ गई जिसमें कहा गया है—"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवसि नरक अधिकारी।"

दूसरे दिन से राजा-रानी अपने आमोद-प्रमोद की सारी वात भूलकर अत्यन्त सादे ढंग से रहने लगे और साथ ही इस प्रयत्न में लग गये कि प्रजा का अज्ञान और दारिद्र्य कैसे दूर हो। देश-विदेश से जानकार लोगों को वुलाया, अपनी प्रजा में से जो ईमानदार, चरित्रवान और अनुभवी लोग थे, उन्हें वुलाया और कहा, "खजाने का सारा धन प्रजा के लिए है। आप लोग मिलकर ऐसी योजना वनावें कि यहां के लोगों का दु:ख-दारिद्र्य और अज्ञान दूर हो, लोग तन-मन से स्वस्थ हों, घर-घर में लक्ष्मी-सरस्वती का वास हो। योजना को पूरा करने में जो खरचा लगे, वह खजाने से लेते जायं। इसमें मुझसे पूछने या मेरी अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं है।"

दूसरे दिन से उन सव लोगों ने मिलकर अथक परिश्रम करते हुए भांति-भांति की योजनाएं वनाईं और उन्हें कार्यान्वित करने में जुट गये। अच्छी नीयत से किये हुए अच्छे काम का परिणाम शुभ आना ही था। ज्यों-ज्यों एक-एक योजना कार्यान्वित होती गई, लोगों को रोटी-रोजगार मिलने लगा। धरती का तथा कल-कारखानों का उत्पादन वढ़ने लगा। धीरे-धीरे दारिद्र्य और अविद्या का नाश होने लगा। राज्य में खुशहाली आने लगी। धरती तो धन की खान है। इसका नाम ही रत्नगर्भा है। परिश्रम और ईमानदारी से कोई प्रयत्न करे तो क्या नहीं हो सकता! सभी कुछ तो सम्भव है, लेकिन वह प्रयत्न अच्छी और सच्ची नीयत से तथा परिश्रम-पूर्वक होना चाहिए। व्यक्तिगत स्वार्थ की वात न सोचकर समष्टिगत भाव से सोचें और उसके अनुसार काम करें, तो सुख-समृद्धि की सृष्टि होते देर नहीं लगती।

जिस किसान की वात ऊपर कही गई है, उसकी खेती पकी तो उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि जितनी-सी जमीन राजा के कन्धे पर हल रखकर वोई थी और जहां राजा का पसीना पड़ा था, वहां अन्न की जगह मोती पैदा हुए हैं। किसान उन मोतियों को थाल में भरकर राजा के पास ले गया और वोला :

"त्वदीयं वस्तु गोविन्द, तुभ्यमेव समर्पये!"

३६ (अब तो) 'तन्नै केगौ जिकोई मनै केगौ'

उपर्युक्त कहावत का हिन्दी अर्थ है, "(अब तो) जो तुम्हें कह गया, वही मुझे भी कह गया।" इसके पीछे जो कहानी है वह यों है :

एक बुढ़िया अपने घर के दरवाजे के बाहर अपने हाथ में एक बीदड़ी और इक्कीस रुपये लिये हुए खड़ी थी। हरियाली तीज का दिन था। इसलिए अपनी लड़की और उसके बच्चों के लिए कपड़े और खिलौने उस बीदड़ी में थे। बेटी ब्याही तो चार कोस पर ही थी, लेकिन चार कोस पर भी रुपये व बीदड़ी पहुंचाने का कोई साधन उसके पास नहीं था। बुढ़िया का पति परलोक सिधार चुका था और उसका एकमात्र लड़का अपनी पत्नी सहित परदेश में रहने लगा था। जिस सेठ के यहां वह लड़का नौकरी करता था, वह उसे साल भर में बस एक बार ही छुट्टी देता था, दीवाली पर। केवल उसी समय बहू-बेटे का घर आना होता था। बेटा घर आता, तब अपनी मां तथा बहिन के लिए बहुत-सी चीज़ें लाया करता। पिछली दीवाली पर लाये हुए कपड़ों और खिलौनों को मां आज के दिन के लिए ही संजोकर रखे हुए थी। बुढ़िया दरवाज़े के पास आकर इसलिए खड़ी हो गई थी कि कोई ऊंट या घोड़े का सवार उधर जाता मिल जाय, तो उसे यह बीदड़ी और रुपये अपनी बेटी को देने के लिए थमा दे। संयोग की बात कि कुछ ही देर में एक घुड़सवार उस बुढ़िया के मकान के पास से गुजरा। बुढ़िया ने उसे पुकारा और पूछा कि वह कहां जा रहा है? सवार ने उसी गांव का नाम बताया, जहां उसकी लड़की ब्याही थी।

बुढ़िया ने कहा, "बीरा, तुम वहां जा तो रहे ही हो, मेरी यह बीदड़ी और रुपये मेरी लड़की को दे देना। गांव में घुसते ही पहला मकान उसी का है। इसलिए तुम्हें वह मकान ढूंढ़ने में भी कोई कठिनाई नहीं होगी। तुम्हारे रास्ते में ही वह मकान पड़ेगा।"

घुड़सवार ने कहा, "मैं व्यर्थ की तोहमत नहीं लूंगा।" और ऐसा कहकर घोड़ा आगे बढ़ा दिया। थोड़ी दूर गया होगा कि सवार के मन में

पाप समाया कि न तो बुढ़िया मुझे जानती है और न मैं उस बुढ़िया को या उसकी बेटी को, अत: बीदड़ी और रुपये ले लेने चाहिए थे। अपन ही गटक जायंगे। कौन पूछनेवाला है !

यह सोचकर वह फिरती उस बुढ़िया के पास आया। इस बीच बुढ़िया को भी यह खयाल आ चुका था कि जान न पहचान, अपन क्या समझकर इस सवार को बीदड़ी और रुपये दे रहे थे ? यह आदमी मेरी बेटी को बीदड़ी न देकर खुद ही रख लेता, तो अपन उसका क्या कर लेते ! अच्छा ही हुआ।

सवार ने बाहर से पुकारा, "बुढ़िया माई, बुढ़िया माई, लाओ बीदड़ी और रुपये, तुम्हारी बेटी के घर पहुंचा दूंगा। मेरा क्या बिगड़ता है, तुम्हारा काम निकल जायगा।"

इसपर बुढ़िया ने ऊपर लिखा हुआ वाक्य कहा, जो कि अब कहावत के रूप में प्रचलित है। सवार को बहुत धोखा हुआ कि हाय रे, पहले अपन ने क्यों इन्कार किया था ! लेकिन अब क्या हो सकता था ! अफसोस करता हुआ वह अपना-सा मुंह लेकर आगे बढ़ गया।

३७ ▥ बहिन का ममत्व

एक सेठ था। धनी होने के साथ-साथ वह उदार और सहानुभूति-शील भी था। कोई भी आदमी विपत्ति का मारा उसके पास आता तो वह बड़ी हमदर्दी से उसकी बात सुनता, अपनी सामर्थ्य के अनुसार सम्मान और प्रेमपूर्वक उसकी मदद करता और उसे इस योग्य बनाने का प्रयत्न करता कि वह पुन: अपने पांवों पर खड़ा होकर कमाने-खाने लायक हो जाय।

सेठ के एक लड़का था और एक लड़की। लड़की ने उदारता और सहानुभूति की वृत्ति अपने बाप से ग्रहण की थी, लेकिन लड़के ने नहीं।

सेठ के धनी होने के कारण वह लड़की भी वड़े घर में व्याही गई थी। ससुराल वालों के घर में अच्छा कारोवार था तथा अच्छी मान-प्रतिष्ठा थी।

समय की गति बलवान होती है। एक तरफ तो पीहर में लड़की के माता-माता का देहान्त हो गया तथा दूसरी तरफ उसके ससुरालवालों के यहां रोजगार में धीरे-धीरे घाटा लगने लगा और सव 'पूंजी-पल्ला'[1] खत्म होकर कारवार ठप्प हो गया।

लड़की ने सोचा कि दु:ख के समय अपना आदमी ही काम आया करता है। अत: यह विचार कर वह अपने भाई के यहां गई। वहां जाकर उसने भाई को अपनी विपत्ति की कथा सुनाई, परन्तु भाई या भाभी ने कोई खास सहानुभूति नहीं दिखाई, मदद करने की तो वात ही अलग। वहिन दो-चार दिन तो उपेक्षिता-सी वनकर वहां रही, पर वाद में अपमान-रूपी विष का घूंट पीकर अपनी ससुराल वापस चली आई। आकर अपने पति से वोली, "अपने को वहां से सहायता की कोई आशा नहीं रखनी चाहिए, परन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि अपन हिम्मत हार कर हाथ-पर-हाथ रखकर वैठ जायं। कहा भी है—'हारिये न हिम्मत, विसारिये न राम नाम।' उसने यह भी कहा, "आखिर हिम्मत हारने और उदास होने की ऐसी वात भी क्या है? लक्ष्मी किसीके यहां पीढ़ा डाल कर तो वैठती नहीं। आज यहां तो कल वहां—वह तो आती-जाती ही रहती है। इसीलिए तो इसे चंचला कहा गया है और ठीक भी है—'पुरुष पुरातन की वधू क्यों न चंचला होय।'...

"धन गया तो क्या हुआ? अपना सत और धर्म तो कहीं नहीं गया है। वह तो अपने पास सुरक्षित है ही। मेरा तो विश्वास है—'सत मत छोड़े सूरमा, सत छोड्या पत जाय। सत की वांधी लच्छमी, फेर मिलेगी आय।' अत: जो कुछ 'टूम-छल्ला'[2] मेरे पास वचा है, उसे वेचकर आपको फिर से छोटा-मोटा व्यापार शुरू करना चाहिए। ईश्वर ने चाहा तो दिन

१. धन-साधन।
२. बचा हुआ छोटा-मोटा गहना।

फिरते देर नहीं लगेगी।" उसे रहीम का वह दोहा याद आ गया—

"रहिमन चुप ह्वै वैठिये, देखि दिनन को फेर।
जव नीके दिन आइहैं, वनत न लगिहै वेर।"

अपनी पत्नी के इस तरह के हिम्मत-भरे वचन सुनकर पति के मन में भी हिम्मत आई और उसने ऐसा ही किया। समय ने पलटा खाया और वह धीरे-धीरे फिर से एक वड़ा व्यापारी वन गया। धनी भी हो गया और उसकी साख भी पहले की भांति ही जम गई।

दूसरी तरफ भाई का व्यापार धीरे-धीरे ठप्प पड़ने लगा और एक समय ऐसा आया कि उसके पास कुछ भी नहीं वचा। उसने सोचा कि मेरी वहिन वहुत विदुषी और सहानुभूतिशील है, अतः उसके यहां चलना चाहिए, यद्यपि विपत्ति में पड़कर वह मेरे पास आई थी तव मैंने वहिन की कोई मदद नहीं की थी, न धन से और न वचन से ही, लेकिन फिर भी उसकी वृत्ति को देखते हुए मेरा यह विश्वास है कि वह विपत्ति के समय मुझे अवश्य गले लगायेगी।

ऐसा सोचकर वह अपनी पत्नी-सहित वहिन के घर गया। उससे सारी हकीकत कही तो वहिन ने दोनों को वहुत ही स्नेह के साथ छाती से लगाया और वोली, "मेरे पास जो कुछ है, वह तुम्हारा ही है। जव तक मेरे पास पैसा है, तुम्हें यह सोचने की भी आवश्यकता नहीं है कि तुम्हें किसी तरह का अभाव है। जितना धन चाहिए, उतना इस घर से ले लो, जोकि तुम्हारा ही है और इससे अपना व्यापार-धंधा शुरू करो। ईश्वर पर विश्वास रखो, वह मदद करेगा। हम दोनों भाई-वहिन एक ही उदर में लेटे हैं, ज़रा-सा भी अलगाव मानने की जरूरत नहीं है।"

भाई ने वहीं रहकर वहिन की सहायता से अपना अलग व्यापार शुरू किया। धीरे-धीरे भगवान के घर में उसकी सुनाई हुई। उसका व्यापार जमने लगा और वह कुछ ही दिनों में वड़े व्यापारियों में गिना जाने लगा। जितने दिन भाई और भाभी वहां रहे, वहिन ने उन्हें वहुत ही आत्मीयता और आदर के साथ रखा। यह मालूम भी नहीं होने दिया कि वे पराये घर में रह रहे हैं।

जव भाई का काम अच्छी तरह चल निकला और उसके पास ठीक-

ठाक पैसा हो गया, तो एक दिन उसने बहिन से अपने घर जाने की और वहां पर व्यापार करने की अनुमति मांगी। बहिन ने बहुत ही भरे हृदय और आंसू-भरे नेत्रों से भाई को विदा दी, परन्तु विदा होते समय बहिन ने एक व्यंग्य-बाण जरूर कस दिया और वह इसलिए कि भविष्य में यदि कोई विपत्ति का मारा आदमी उसके पास आये तो वह आगन्तुक के साथ सहानुभूति से पेश आये। उसने विदा के समय भाई से ये वचन कहे :

तिथि टूटे रे बीर, वार कदे नहिं टूटसी,
भाण बिराणी होय, बीरो बीरो ही रहे,
मेरी मां जायो, बीर, टुकड़ो मेरे हीव को।

भाई शर्मिन्दा तो हुआ, लेकिन भविष्य के लिए यह गांठ पल्ले बांध लाया कि कोई भी आदमी आपद्-विपद् के समय उसके पास आये, तो उसके साथ बहुत ही हमदर्दी का व्यवहार करना चाहिए और जितनी हो सके, उसकी मदद करनी चाहिए, क्योंकि 'समय निकल जाता है और बात रह जाती है।' 'वखत का वाया मोती नीपजै।'

३८ अकल खेत में नहीं निपजती

एक वैद्य था। उसके पास चार-पांच शिष्य पढ़ा करते थे। एक शिष्य इतना मूर्ख था कि किसी तरह कुछ पढ़ ही नहीं पाता था, लेकिन वह था वैद्यजी का प्रिय, इसलिए वह किसी भी रोगी को देखने जाते, तो उसे भी साथ ले जाते और रोग और उसके उपचार आदि की बातें उसको बताते रहते।

एक बार वैद्यजी महाराज किसी के यहां गये, तो घरवालों ने कहा, "हमारे ऊंट के गले में बुरी तरह सूजन आई हुई है। जरा देख लीजिये, क्या बात है।"

वैद्यजी ने देखा, तो उन्हें सहज ही अनुमान हो गया कि एक

'गड़तूमा'[1] ऊंट के गले में फंस गया है, जो न निगलते वनता है और न उग-लते। वैद्यजी ने ऊंट के गले पर जोरों से एक मुक्का मारा, तो वह 'गड़-तूमा' फटकर ऊंट के पेट में चला गया। ऊंट स्वस्थ हो गया और ऊंट के मालिक की परेशानी मिट गई। शिष्य सारी हकीकत देख रहा था।

कुछ दिनों वाद वैद्यजी को वुलाने एक आदमी आया, क्योंकि उसकी मां के गले में वड़ा-सा फोड़ा होने के कारण वह वहुत तकलीफ पा रही थी। वैद्यजी घर पर थे नहीं, तो वह शिष्य को ले गया। शिष्य ने जाकर देखा तो उसे अपने गुरु द्वारा किये हुए ऊंट के इलाज की वात याद आ गई। उसने वुढ़िया के गले को देखा और उस सूजी हुई जगह पर एक जोरदार मुक्का लगाया। मुक्का लगने की देर थी कि वुढ़िया तो एक वार चीखकर वहीं ढेर हो गई।

घरवालों ने उसको वहुत वुरा-भला कहा। वे वोले, "तुम्हें रोगी की चिकित्सा करने के लिए वुलाया था, हत्या करने के लिए नहीं।"

ऐसा कहकर उसे मार-पीटकर निकाल दिया। वेचारे शिष्य को यह वात समझ में नहीं आई कि गुरु महाराज के मुक्के से ऊंट के गले की सूजन मिट गई थी और वह स्वस्थ हो गया था, तो मेरे मुक्के से यह वुढ़िया मर क्यों गई ?

शिष्य तो वापस अपने घर चला गया और वुढ़िया के कुटुम्वी जन अन्तिम संस्कार की तैयारी में लग गये। दाह-क्रिया के वाद घरवालों ने जाकर वैद्यजी को जव सारी घटना कही, तो उन्होंने अपने शिष्य को वहुत डांटा-फटकारा; लेकिन वुढ़िया जो मर चुकी थी, वह तो अव वापस आने से रही।

दिन वीतते-वीतते वात ठंडी पड़ गई।

एक वार वैद्यजी किसी रोगी को देखने गये, तो घरवालों ने कहा, "पंडितजी, इसकी तवियत आज अच्छी नहीं है। खट्टी डकारें आ रही हैं।" वैद्यजी ने नाड़ी देखी। फिर इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई, तो रोगी की खाट के पास मूली के कुछ छिलके और पत्ते पड़े हुए थे। नब्ज से तो, खैर,

१. एक फल विशेष, जो वहुत कड़वा होता है।

क्या पता लगना था लेकिन वैद्यजी थे चतुर, अतः पत्ते आदि देखकर उन्होंने अनुमान लगा लिया कि रोगी ने मूली खाई है और फिर अपनी विद्वत्ता का सिक्का जमाने के लिए घरवालों से कहा, "रोगी ने कुछ कुपथ्य किया मालूम होता है।"

रोगी ने कहा, "महाराज, कुपथ्य तो मैंने कुछ भी नहीं किया।"

वैद्यजी बोले, "तुम्हारी नब्ज यह साफ बता रही है कि तुमने मूली खाई है।"

चूंकि रोगी ने मूली खाई थी, अतः रोगी और उसके घरवाले वैद्यजी की यह बात सुनकर दंग रह गये कि वैद्यजी महाराज कितने सिद्धहस्त हैं कि इनको नाड़ी देखकर यह पता लग जाता है कि रोगी ने क्या खाया है, आदि।

वैद्यजी ने दूसरी दवा दे दी और ऐसा कहकर कि रोगी कल तक ठीक हो जायगा, अपने घर लौट आये।

उस प्रिय शिष्य ने पूछा, "महाराज, आपने मुझे कभी यह तो सिखाया ही नहीं कि नाड़ी की किस चाल से यह पता लगता है कि रोगी ने क्या खाया है!"

गुरुजी ने कहा, "अरे मूर्ख, कभी नाड़ी से भी यह पता लगता है? लोगों को ठगने के लिए आदमी में चतुराई होनी चाहिए। इधर-उधर मूली के टुकड़े व पत्ते पड़े थे, तो मैंने अनुमान लगाकर वैसा कह दिया।"

शिष्य ने कहा, "ठीक है।"

दस-पन्द्रह दिन बीते होंगे कि एक दूसरे रोगी के यहां से बुलावा आया। उस दिन भी वैद्यजी घर पर नहीं थे, इसलिए शिष्य महाराज वहां पहुंचे। रोगी को देखा, उसकी नब्ज देखी और गुरु की तरह ही इधर-उधर नज़र दौड़ाई तो देखता क्या है कि पास ही ऊंट पर सवारी करने की 'कूंची' पड़ी हुई है तथा दूसरा सामान भी, लेकिन ऊंट वहां नहीं है, क्योंकि तभी ऊंट को पानी पिलाने के लिए बाहर ले जाया गया था। शिष्य ने तुरन्त कह दिया कि रोगी ने कुपथ्य किया है। रोगी अपने कुपथ्य न किये जाने की सफाई दे, इससे पूर्व ही शिष्य महाशय, रोगी के घरवालों की तरफ मुखातिब होकर बोले कि इसने ऊंट खाया है।

उसने यह सोचने की जरा भी जरूरत नहीं समझी कि मनुष्य ऊंट कैसे खा सकता है। उसके दिमाग में तो गुरु महाराज की तरह इधर-उधर देख-कर अनुमान लगा लेने की बात ही घर किए हुए थी।

घरवालों को गुस्सा तो आना ही था। बोले, "तुम भी कैसे अनाड़ी आदमी हो! कोई आदमी ऊंट भी खा सकता है?"

ऐसा कहकर उसे अपने घर से धक्के देकर बाहर कर दिया।

वैद्यजी महाराज जब लौटे तो वह रोने लगा और सारी घटना बता-कर बोला, 'मैंने तो आपके सिखाये अनुसार ही किया था, लेकिन मेरी तो यह दुर्गति हुई!"

गुरुजी ने कहा, "भले आदमी, कुछ तो बुद्धि से भी काम लेते।" ऐसा कहकर वह नाराजी जाहिर करते हुए बोले, "देखो, तुम्हें विद्या आने की नहीं, अत. तुम मेरे यहां से चले जाओ।"

शिष्य ने गिड़गिड़ाते हुए कहा, "कृपा करके मुझे थोड़े दिन और रख लीजिए। अब मैं मन लगाकर पढ़ूंगा। आपको वचन देता हूं कि आइन्दा इस प्रकार की भूल नहीं करूंगा।" गुरुजी ने कृपा करके उसे एक मौका और दे दिया।

कुछ दिनों बाद गुरुजी को घोड़ी पर चढ़कर एक दूसरे गांव जाना था। पीछे-पीछे शिष्य हो लिया। गुरुजी ने घोड़ी पर अपना संध्या-वंदन, पूजा-पाठ का सामान और ओढ़ने-पहनने के कपड़े व दवा की पेटी आदि चीजें बांध रखी थीं।

थोड़ी दूर गये होंगे कि घोड़ी पर से दवा की पेटी गिर गई। गुरुजा को पेटी के गिरने का पता नहीं चला, क्योंकि पेटी जिस जगह पर गिरी थी, वहां काफी मिट्टी थी, इसलिए आवाज नहीं हुई थी। शिष्य ने पेटी गिरती हुई देखी तो सही, किन्तु उठाई नहीं। वे लोग कुछ दूर आगे चले गये।

मार्ग में गुरुजी को प्यास लगी और वे एक स्थान पर पानी पीने के लिए रुके। पानी पीकर वहां से रवाना होते समय जब वे घोड़ी पर चढ़ने लगे तो उनका ध्यान पीछे बंधे हुए सामान पर गया। देखा तो पेटी वहां नहीं थी। घर से चलते समय दवा की पेटी बाकी सामान के साथ बांधी अवश्य गई थी, इसलिए उन्होंने शिष्य से पेटी के बारे में पूछा। शिष्य ने

पेटी गिरने की बात बताई।

सुनकर गुरुजी की त्यौरियां चढ़ गईं। गुस्से में उन्होंने शिष्य से कहा, "जब तुम पीछे-पीछे आ रहे थे और तुम्हें पता था कि पेटी गिर गई है, तो तुमने उठाई क्यों नहीं?"

शिष्य ने कहा, "आपने कब कहा था कि कोई चीज गिर पड़े तो उठा लेना?"

गुरुजी क्या करते, गुस्सा पीकर रह गये और बोले, "खैर, जा, जल्दी से उस पेटी को लेकर आ।"

गुरु के कहे अनुसार शिष्य दवा की पेटी फिरती ले आया। पेटी घोड़ी की पीठ पर फिर से बांध दी गई। गुरुजी ने कहा, "अब अगर घोड़ी से कुछ भी गिरे तो उठा लेना।"

शिष्य ने 'हां' भर ली।

थोड़ी ही दूर गये होंगे कि घोड़ी ने लीद कर दी। शिष्य तुरन्त लीद को उठाकर गमछे में बांधकर भागा-भागा थोड़ी तक गया और गमछे में बंधी हुई लीद के बारे में बताकर गमछा गुरुजी को थमाने लगा। गुरुजी ने अपना माथा कूट लिया और बोले, "अरे मूर्ख, यह भी कोई उठाने की चीज है!"

शिष्य कुछ तमतमाया और लीद को फेंकते हुए बोला, "देखिए महाराज, मैं इस झगड़े के काम में नहीं पड़ना चाहता। मुझे तो साफ-साफ लिखा दीजिए कि क्या चीज उठानी है और क्या नहीं उठानी।"

तब गुरुजी ने उसे समझाते हुए कहा, "देख, दवा की पेटी गिरे तो उठा लेना, ओढ़ने-बिछाने के कपड़े गिर जायं तो उठा लेना, संध्या-वंदन या पूजा-पाठ का सामान आदि गिरे तो उठा लेना।"

शिष्य ने गुरु के कहे अनुसार सारी चीजों की फेहरिस्त बना ली। थोड़ी दूर आगे बढ़े होंगे कि घोड़ी चमक गई और गुरुजी गिर गये, एक खड्ड़े में। उन्होंने कराहते हुए अपने शिष्य को पुकार कर कहा, "अरे, मुझे बाहर निकाल।"

शिष्य ने कहा, "ठहरिये, मैं अपनी फेहरिस्त देख लेता हूं।"

और फेहरिस्त देखकर बोला, "आपने मुझे अपना नाम तो नहीं

लिखाया है, इसलिए मैं आपको नहीं उठाऊंगा।"

ऐसा कहकर और गुरुजी को उस खड्डे में ही पड़ा छोड़कर शिष्य वापस अपने घर चला आया। गुरु महाराज वहां पड़े-पड़े कराहते हुए अपने शिष्य की नादानी की वात आने-जाने वाले पथिकों से कहते रहते हैं।

अकल न तो खेत में निपजती है, न उधारी मिलती है, न मोल, न मांगने से और न पढ़ने से ही आती है। हां, अगर वीज-रूप में किसी में अकल हो तो पढ़ने से उसका विकास अवश्य हो सकता है, होता है और वहुत होता है।

३९ ||||| ज्ञान की कलगी

महात्मा कवीर के ज्ञानी होने की प्रशंसा दूर-दूर तक फैली हुई थी। वह गृहस्थ होते हुए तथा अपना पुश्तैनी जुलाहे का धन्धा करते हुए भी पूरे वीतराग थे। अपनी छोटी-छोटी सरल साखियों में उन्होंने गहरा ज्ञान भर दिया है।

एक वार की वात है कि एक आदमी उनके दर्शन करने और उनसे ज्ञान सीखने को उनके घर गया। घर पर पहुंचा तो उसे मालूम हुआ कि पड़ोस में ही एक व्यक्ति की मृत्यु हो जाने के कारण वह उसकी शव-यात्रा में गये हैं।

आगन्तुक महाशय को घर लौटने की जल्दी थी, इसलिए वह श्मशान में कवीरजी से मिलने चला गया। जाती दफे कवीरजी की पत्नी से यह भी पूछता गया, "मैं उनको कैसे पहचान सकूंगा?"

कवीर की पत्नी ने कह दिया, "उनके सिर पर कलगी है।"

श्मशान-घाट पर जव वह आदमी पहुंचा, तो यह देखकर उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा कि शव-यात्रा में शरीक होनेवाले अधिकांश लोगों के सिर पर कलगी है। वह वहां बैठ गया। ज्यों-ज्यों समय वीतने

लगा, त्यों-त्यों एक-एक आदमी के सिर से कलगी गायब होने लगी। दाह-संस्कार शेष हुआ, तबतक अधिकांश आदमियों की कलगी गायब हो चुकी थी। उसके बाद जब सारे लोग गंगाजी पर स्नान के लिए आये, तबतक तो केवल एक ही आदमी के सिर पर कलगी बची थी, अत: उस आदमी ने पहचान लिया कि यही कबीरजी हैं।

उसने कबीरजी को प्रणाम किया। कबीरजी ने उसका नाम-धाम तथा आने का कारण पूछा तो उसने अपना नाम-पता बताते हुए कहा, "महा-राज, जिस काम के लिए मैं आपके पास आया था, मेरा वह काम हो चुका है। मैं आपके पास ज्ञान सीखने आया था और वह ज्ञान मुझे आपके दर्शन-मात्र से मिल गया है।...

"मनुष्य जब किसी शव-यात्रा में जाता है, या किसी अपने-पराये को मरते हुए देखता है, तब उसके मन में एक बार वैराग्य-वृत्ति का उदय होता ही है। लेकिन वह वैराग्य, वह ज्ञान बहुत ही अल्पकालिक होता है। जिस तरह कि अभी-अभी मेरे देखने में आया कि जितने लोगों के सिर पर कलगी थी वह एक-एक करके थोड़ी ही देर में सबके सिर से गायब हो गई, लेकिन आपके सिर पर जो वैराग्य और ज्ञानरूपी कलगी है वह स्थायी है, याने संसार की नश्वरता का ध्यान आपको उठते-बैठते, खाते-पीते, काम करते चौबीसों घण्टे ही रहता है। आपकी इस वैराग्य-वृत्ति के स्थायित्व के दर्शन करके ही मैं तृप्त हो गया हूं।"

राजस्थानी में अल्पकालिक वैराग्य को 'मसाणिया वैराग' कहते हैं, क्योंकि मनुष्य किसीकी शव-यात्रा में जाता है, तो श्मशान-घाट पर बैठे-बैठे ज्ञान और वैराग्य की बातें बहुत करता है, लेकिन उसमें वैराग्य-वृत्ति दरअसल होती नहीं; इसीलिए इसको कामसाणिया याने श्मशान-वैराग्य दिया गया है, याने जितनी देर श्मशान में बैठा रहे, केवल उतना ही देर का वैराग्य!

४० ▥ 'जननी जन्मभूमिश्च...'

एक वार गरुड़जी ने विष्णु भगवान से मर्त्य-लोक में अपने घर जाने के लिए छुट्टी चाही। विष्णु भगवान ने कहा, "तुम इतनी दफे तो अपने देश जाते हो और वरावर ही उस स्थान को याद भी करते रहते हो, सो ऐसी क्या वात है ? आखिर वहां ऐसा क्या आकर्षण है ? वह स्थान वैकुंठ से भी अधिक सुन्दर है क्या ? क्या वहां तुम्हें यहां से भी अधिक सुख है ?"

गरुड़जी ने कहा, "वह सुख वर्णनातीत है।"

विष्णु भगवान ने छुट्टी दे दी और गरुड़जी अपने जन्म-स्थान चले आये। कहां पहुंचते ही वह एक वृक्ष से दूसरे पर और दूसरे से तीसरे पर उड़-उड़कर अपने सारे परिजनों और प्रियजनों से मिले। सदा की भांति उन्होंने सवको वैकुंठ की वातें सुनाईं तथा अपने यहां के हाल-चाल पूछे। छोटे-वड़े सवसे मिले और परम तृप्ति का अनुभव किया।

गरुड़जी तो अपने घर पर इतने रम गये कि वैकुंठ वापस जाने का उनका मन ही न करे।

विष्णु भगवान ने सोचा—-चलकर देखना चाहिए कि गरुड़ का स्थान कितना सुन्दर है। वह वहां पर किस तरह रह रहा है। ऐसा सोचकर वह गरुड़ के यहां आये। देखा तो गरुड़ एक मोटे-से वृक्ष की खोह में वैठा था। उसके पास कुछ पक्षी और वैठे थे और हँस-हँसकर वातें कर रहे थे।

विष्णु भगवान को देखकर सवने पंख फड़फड़ाकर उनकी अगवानी की।

विष्णु भगवान ने पूछा, "क्यों गरुड़जी, यही तुम्हारा देश है और यही तुम्हारा घर है, जहां आने के लिए तुम वैकुंठ में भी तरसते रहते हो ?"

गरुड़ ने कहा, "महाराज, वैकुण्ठ कितना भी सुन्दर हो, लेकिन मेरे लिए वह पराया है। वहां रहता हूं तव मुझे ऐसा लगता है कि दूसरे के घर नौकरी पर रह रहा हूं, जवकि यह जंगल मुझे अपना घर-जैसा लगता है। यहां के लोग मेरे अपने हैं। इस धरती पर मैंने जन्म लिया है और अपना वाल्य-काल विताया है। यहां के हवा-पानी से मैं पोषित हुआ हूं। यहां की मिट्टी के कण-कण से और यहां के पानी की वूंद-वूंद से मेरा ममत्व है—'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी !"

४१ गड़े धन का चमत्कार

एक ठाकुर थे। कहने को तो वह जागीरदार थे, लेकिन वार्षिक आय उनकी बहुत ही थोड़ी थी। तबियत के 'औला-दौला' थे, सो खर्च बहुत करते थे। वह अनेक ऊंट, घोड़े, रथ,गाय-भैंस आदि रखते थे। उनके यहां मुसाहिब और खजांची के अलावा छोटे-मोटे नौकर भी अनेक थे। जनानी ड्योढ़ियों में भी कई दास-दासियां थीं, अत: बराबर ही कर्जे में डूबे रहते थे।

ठाकुर साहब दिल के तो अच्छे थे, लेकिन व्यवहार-कुशल कम थे। ठकुरानी समझदार थी, अत: किसी तरह घर को निभाये जा रही थी।

चूंकि घर में 'धीणा' बहुत था, इसलिए ठकुराइन 'छाछ' खूब बांटा करती।

ठाकुर साहब के एक लड़की थी, जिसका वयस्क हो जाने पर भी सम्बन्ध हुआ पार नहीं पड़ा था। ठाकुर साहब तो मस्त तबियत के आदमी थे, लेकिन ठकुराइन के मन पर इस बात का बहुत बोझ था; अत: वह बहुत चिन्तित रहती थी।

एक चमारिन रोज ही ठकुराइन के पास छाछ मांगने आया करती थी। आपस में अच्छा भाव हो गया था दोनों में।

एक दिन उस चमारिन ने ठकुराइन को चिन्तित देखकर सहज भाव से पूछ लिया, "क्यों मांसाव, आज उदास क्यों दीख रही हैं?" चमारिन के खुद के चेहरे पर एक प्रकार की अजीब मादकता-सी थी।

ठकुराइन ने कहा, "बात कुछ नहीं, बाई बड़ी हो गई है और उसका सम्बन्ध पार नहीं पड़ रहा है। ठाकुर साहब घर-गृहस्थी की बातों की ओर ध्यान देते नहीं, इसलिए मेरे मन में चिन्ता रहती है।"

चमारिन ने हँसकर कहा, "इसमें चिन्ता की क्या बात है? लड़का तो एक मेरे है। खासा जवान है। खूबसूरत इतना कि आस-पास के गांवों में उसकी शान का कोई जवान नहीं मिले।"

ठकुराइन को गुस्सा तो आया, लेकिन वह थी समझदार तथा 'समाई' वाली, अत: कुछ बोली नहीं।

चमारिन छाछ लेकर अपने घर चली गई।

दूसरे दिन फिर वह चमारिन आई और पहले दिन का तरह हा वात-चीत हुई।

चमारिन जव छाछ लेकर अपने घर चली गई, तव ठकुराइन ने अपने पति से सारी वात कही। पति ने कहा, "तुम मुझे अल्हड़ और अलमस्त तो कहती हो और यह भी कहती हो कि मुझमें व्यावहारिक कुशलता नहीं है, लेकिन आज मैं तुम्हें एक करामात दिखाता हूं।"

यह कहकर ठाकुर वोले, "चमारिन जो कुछ कहती है, स्वयं नहां कहती। किसी अदृश्य पराये वल पर ही वह ऐसा कहती है, इसलिए मुझे वह जगह दिखाओ, जहां चमारिन कल और आज खड़ी हुई थी।"

ठकुराइन ने वह जगह दिखाई तो ठाकुर ने पांच-सात आदमियों का वुलाकर वह जगह खुदवानी शुरू कर दी। खुदाते-खुदाते जव पच्चासेक हाथ नीचे चले गये तो अशर्फियों से भरे हुए अनेक घड़े उन्हें मिले, जिनको निकलवा लिया और फिर उस जगह को समतल करवा दिया।

ठाकुर साहव अपनी पत्नी से वोले, "चमारिन जो कुछ कह रही था वह इन अशर्फियों के वल पर ही कह रही थी। कल देखना, वह कुछ भी नहीं कहेगी।"

दूसरे दिन वही चमारिन फिर छाछ मांगने आई और ठकुराइन ने अपनी लड़की के सम्वन्ध में वात चलाई, तो चमारिन ने कहा, "हम लोग तो छोटी जात के कमीने आदमी हैं, हम ये सव वातें क्या समझें ?"

ठकुराइन ने कहा, "क्यों, तुम्हारे भी एक लड़का है न ?"

चमारिन तो यह सुनकर पीपल के पत्ते की तरह कांपने लगी आर वोली, "मांसाव, आप भी कैसी वातें कर रही हैं। कहां मैं एक नीच जाति की चमारिन और कहां आप नगर के राजा !" उस चमारिन से तो भय के मारे वहां खड़ा भी नहीं रहा गया और वह डरती-कांपती किसी तरह अपने घर वापस आई।

इससे मिलती-जुलती एक कहानी हितोपदेश में भी है, जिसके अनुसार कुछ चूहे एक साधु की ऊंची टंगी हुई रोटियों को उछल-उछलकर खा जाया करते थे। साधु को आश्चर्य हुआ कि चूहे इतने ऊंचे कैसे कूद सकते हैं। उसने एक गृहस्थी से सारी वात कही तो वह वात समझ गया और

साधु की कुटी में आया। उसने आते ही चूहों के बिल को खुदवाया। थोड़ा गहरा खोदने पर उन्हें ढेर-सा धन मिला, जिसे निकाल लिया गया। दूसरे दिन से चूहों की उछाल इतनी कम हो गई कि वे टँगी हुई रोटी के आधी दूर तक भी नहीं पहुंच सकते थे, क्योंकि वे चूहे तो धन की ऊष्मा से कूद रहे थे। अथोष्मप्रकूर्दन्ति।

इसी तरह सिंहासन-बत्तीसी के बारे में भी यही बात प्रचलित है कि विक्रमादित्य का आसन जहां गड़ा हुआ था, उस भूमि पर खड़े होने से एक ग्वाले को न्याय-सम्बन्धी तथा दूसरी बड़ी-बड़ी बातें सूझा करती थीं और वह उसके अनुसार बोलने लगता था। राजा भोज को जब इस बात का पता चला तो उसने वह भूमि खुदवाई और उसे विक्रमादित्य का सिंहासन मिला था। आगे की कथा सिंहासन-बत्तीसी में देखिये।

४२ दीवार के भी कान होते हैं

दो मित्र थे। एक ब्राह्मण और एक सुनार। दोनों साथ-साथ कमाने के लिए परदेश गये। छोटा-मोटा व्यापार शुरू किया। भगवान ने उनकी सुन ली और वे धीरे-धीरे छोटे-से बड़े व्यापारी बन गए। उन्होंने काफी पैसा कमा लिया।

एक दिन दोनों ने बैठकर विचार किया कि भगवान की दया से खूब अच्छी कमाई हो गई है, इसलिए हमें अब अपने घर वापस चलना चाहिए।

दूसरे ही दिन वे सारा माल-मता लेकर अपने घर के लिए रवाना हो गये। रास्ते में सुनार के मन में पाप आया कि अगर मैं अपने इस ब्राह्मण मित्र को मारकर सारा धन अकेले ही हथिया लूं तो कौन पूछनेवाला है ! बस, मन में पाप आने की देर थी कि उसी दिन रात को जब वह ब्राह्मण गहरी निद्रा में सोया हुआ था, तो सुनार एक तलवार लेकर उसकी छाती

पर सवार हो गया और उसकी चोटी पकड़कर बोला, "मैं तुम्हें मारना चाहता हूं।"

ब्राह्मण अवाक् रह गया। उसने स्वप्न में भी यह कल्पना नहीं की थी कि यह सुनार कभी इतना बड़ा अनर्थ करेगा। ब्राह्मण ने पूछा, "क्यों, क्या बात है?"

सुनार ने कहा, 'बात सीधी-सी है—मैं यह सारा धन अपने आप रखना चाहता हूं।"

ब्राह्मण ने कहा, "इसके लिए हत्या करने की क्या आवश्यकता है? धन तुम यों ही ले लो।"

तब सुनार ने कहा, "मैं सुनार हूं, इतना भोला नहीं हूं। ऐसे भोले तो ब्राह्मण होते हैं। मैं तुम्हें जिन्दा छोड़ दूं और तुम गांव में जाकर सारी बात कह दो तो तुम्हार क्या विश्वास! तुम्हें मारने के अलावा मेरे निश्चित होने का और कोई मार्ग नहीं है।"

ब्राह्मण ने कहा, "अच्छी बात है। तुम जैसा चाहो, वैसा ही करो! लेकिन मैं तुम्हें एक पत्र लिख देता हूं, वह मेरे घरवालों को दे देना। पत्र में मैं अपने हत्या-सम्बन्धी कुछ भी समाचार नहीं लिखूंगा, केवल चार अक्षर लिख दूंगा, जिनका कुछ भी अर्थ नहीं होता। मैं केवल इतना ही चाहता हूं कि कम-से-कम मेरे अक्षर तो घरवाले देख लें।"

सुनार ने कहा, "ठीक है।"

तब ब्राह्मण ने एक कागज का टुकड़ा लेकर उसपर चार अक्षर लिख दिये—'अ प्र शि ख'।

सुनार को विश्वास हो गया कि ये निरर्थक अक्षर हैं, इसलिए ब्राह्मण का मन रखने के लिए उसने वह कागज का टुकड़ा अपने पास रख लिया और सोचा कि इसे ब्राह्मण के घरवालों को दे भी दूं तो मेरा क्या बिगड़ने-वाला है! ऐसा सोचकर ब्राह्मण की तो उसने हत्या कर दी और सारा धन अपने कब्जे में कर लिया। पास ही एक नदी के किनारे पर ले जाकर ब्राह्मण के शव को रातों-रात गाड़ दिया और दूसरे दिन सवेरे अपने गांव के लिए रवाना हो गया।

गांव पहुंचकर सारा धन तो अपने घर में रख लिया और वह कागज

का टुकड़ा ब्राह्मण के घरवालों को देने गया।

ब्राह्मण के पिता ने पूछा, "मेरा लड़का तुम्हारे साथ क्यों नहीं आया ?"

सुनार ने कहा, "काफी अच्छी कमाई चल रही है उसकी, इसलिए उसका आने को मन नहीं करता। मुझे तो उसने भागते-दौड़ते ये चार अक्षर लिखकर दिये हैं और यह कहा है कि मैं तो अभी दो-तीन वर्ष तक घर नहीं आऊंगा।"

ऐसा कहकर सुनार ने वह कागज का टुकड़ा उन्हें थमा दिया।

ब्राह्मण के पिता के मन में शंका हुई कि सुनार अकेला ही क्यों आया ? उसके साथ न तो मेरा बेटा स्वयं आया, न हो उसने कुछ भेजा और न पूरे समाचारों का पत्र ही दिया। केवल चार अक्षरों का यह कागज का टुकड़ा है, जिसका कुछ भी अर्थ नहीं निकलता है। ऐसा कैसे हो सकता है ! इसमें जरूर कुछ-न-कुछ रहस्य है !

डाक-तार की व्यवस्था उन दिनों थी नहीं, इसलिए बेचारा ब्राह्मण सत्यासत्य की जांच करे तो कैसे करे ? जब वह किसी भी तरह उन चार अक्षरों का अर्थ नहीं समझ सका और उसकी शंका भी दबाये नहीं दबी तो आखिर राजा भोज के दरबार में गया और वह कागज का टुकड़ा राजा के हाथ में देते हुए बोला, "मैं इन अक्षरों का अर्थ जानना चाहता हूं।"

राजा भोज कागज के टुकड़े पर लिखे उन चार अक्षरों को देखकर बड़े आश्चर्य में पड़ गया। उसने ब्राह्मण से अपनी सारी बात का खुलासा करने को कहा।

तब ब्राह्मण ने अपने बेटे और सुनार के साथ-साथ कमाने के लिए परदेश जाने, अकेले सुनार के वापस लौटने, सुनार के अपने बेटे के लिखे उस कागज के टुकड़े को देने और अपनी शंका होने की सारी बात राजा को बताई।

राजा ने पंडितों की एक सभा बुलाई और उनसे इन चार अक्षरों का अर्थ पूछा। कोई भी पंडित अर्थ नहीं बता सका।

तब उस ब्राह्मण ने कहा, "राजन्, या तो एक सप्ताह के भीतर इसका अर्थ कराकर दीजिए, नहीं तो मैं राजमहल के बाहर अनशन करके अपने

प्राण त्याग दूंगा ।"

राजा ने सारे पंडितों को धमकाते हुए कहा, "आप लोग इतने बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान यहां बैठे हैं। चार अक्षरों का अर्थ नहीं कर सकते, यह कैसी विद्वत्ता हुई! मैं तुम्हें सात दिन की मोहलत देता हूं। या तो इस बीच इसका अर्थ मुझे बता दो, नहीं तो तुम सारे पंडितों को तेली की घाणी में पिलवा दूंगा।"

ब्राह्मण अपने घर चला आया और उसी दिन से वे सारे पंडित इस प्रयत्न में लग गये कि किसी भी तरह इन अक्षरों का भी अर्थ निकालना चाहिए, नहीं तो सारे पंडितों की एक साथ मृत्यु है।

छः दिन तक पंडितों ने खूब प्रयत्न किया, बहुत-से ग्रंथ भी देखे, बहुत पुराने लोगों से पूछ-ताछ की, लेकिन कुछ भी पता नहीं चला। तब निराश होकर सारे पंडितों ने एक गुप्त स्थान में सभा की और तय किया कि आज रात को यहां से राज्य छोड़कर चले जाना चाहिए, व्यर्थ ही जान गंवाने से क्या फायदा!

ऐसा तय करके सारे-के-सारे पंडित धारा नगरी छोड़कर गुप्त स्थान के लिए रवाना हो गये। एक-दूसरे को बताते गए कि आवश्यकता होने पर वह कहां मिलेगा।

एक पंडित, जो कि ज्यादा बूढ़ा था, उससे अधिक दूर नहीं चला गया। अतः वह धारा नगरी से कुछ ही फासले पर एक जंगल में एक वृक्ष की खोह में छिपकर बैठ गया।

आधी रात बीती होगी कि वहां पर राक्षसों की एक सभा जुड़ी। सारे राक्षसों ने अपने सरदार से कहा, "मनुष्य का खून पीये बहुत दिन हो गए, उसके लिए मन तरसता है, कोई व्यवस्था करके दो।"

सरदार ने कहा, "कल धारा नगरी चलना। वहां का राजा भोज अपने अनेक पंडितों को घाणी में पिलवायेगा, सो धाप-धाप कर लहू पी लेना।"

राक्षसों ने पूछा, "क्या बात है? राजा भोज तो पंडितों का सम्मान करनेवाला है, वह उनकी हत्या क्यों करवा रहा है?"

सरदार ने कहा, "यह मत पूछो। कोई सुन लेगा तो सारा मामला ही चौपट हो जायगा।"

राक्षसों ने जिद की और कहा, "यह मध्य रात्रि का समय और जंगल का निर्जन स्थान, यहां कौन सुननेवाला है?"

सरदार ने उन्हें समझाते हुए कहा, "देखो, दीवार के भी कान होते हैं। गुप्त रहस्य किसीके सामने प्रकट करने का नहीं होता। वह तो अपने पास रखने का ही होता है।"

राक्षसों ने फिर जिद की तो सरदार ने सारी बात बता दी।

राक्षसों ने कहा, "आपने घटना तो बता दी, लेकिन 'अ प्र शि ख' का अर्थ नहीं बताया।"

सरदार ने कहा,"तुम जानना ही चाहते हो तो तुम्हें अर्थ भी बता देता हूं, लेकिन तुम खून पीने से वंचित रह जाओगे तो मुझ उलाहना मत देना।"

ऐसा कहकर सरदार ने 'अ प्र शि ख' का अर्थ राक्षसों को बता दिया।

सभा भंग हो गई और खोह में बैठा बूढ़ा पंडित, जो कि राक्षसों की सारी बात सुन चुका था, अत्यन्त प्रसन्न हो गया।

प्रातःकाल होने से पहले ही वह वापस अपने घर पहुंच गया और सारे पंडितों को कहला दिया कि वे निश्चिंत होकर घर लौट आवें। राजा की समस्या का हल मैं जान चुका हूं और अपने को अब किसी भी तरह का भय नहीं है।

सारे पंडित नगर में वापस लौट आये।

राज्य की ओर से बुलाहट हुई तो सब-के-सब पंडित राजा के यहां एकत्र हो गए। वह बूढ़ा पंडित, जो कि पूरा-पूरा निश्चिंत था, कुछ देरी से पहुंचा। राजा की ओर से आये आदमी को बार-बार यही कहता रहा कि आ तो रहा हूं, ऐसी क्या जल्दी पड़ी है! राजा अर्थ ही तो जानना चाहता है, मैं बता दूंगा।

आखिर वह बूढ़ा पंडित भी गले में रुद्राक्ष की माला डाले, ललाट पर त्रिपुंड लगाये, अधोवस्त्र के रूप में पीतांबर पहने, राम-नामी चद्दर ओढ़े तथा पांवों में खड़ाऊं पहने 'टक-टक' करता दरबार में पहुंचा। अद्भुत तेज था उसके चेहरे पर।

राजा ने पंडितों की ओर मुखातिब होकर पूछा, "कहिये महाराज! आप लोगों में से कोई आदमी उन चार अक्षरों का अर्थ बताने में समर्थ है,

नहीं तो आज आप लोगों के जीवन का अन्तिम दिन है !"

सारे पंडितों की आंखें उस बूढ़े पंडित की ओर गईं और उसने खड़े होकर अर्थ बताना शुरू किया :

अ : अनन्य था जो मित्र मेरा किसी दिन वह सुनार का लड़का

प्र : प्रगाढ़ निद्रा में जब मैं सोया हुआ था गहन वन में

शि : शिखा मेरी पकड़कर वक्षस्थल पर मेरे सवार हो गया वह

ख : खड्ग से शिरच्छेद किया मेरा।

जो ब्राह्मण अर्थ जानना चाहता था, उसे अर्थ से तो संतोष हो गया, किन्तु वह अपने बेटे की मृत्यु का समाचार जानकर अत्यन्त व्यथित हुआ।

दरबार में सुनार के लड़के को बुलाया गया। उसने एक बार तो इन्कार किया, लेकिन फिर राजा के धमकाने पर सारी बात स्वीकार कर ली।

राजा ने सुनार से सारा धन उस ब्राह्मण को दिला दिया और सुनार के लड़के को न्याय के अनुसार दण्ड दिया।

सच ही है, गुप्त बात किसी के सामने प्रकट नहीं करनी चाहिए, दीवार के भी कान होते हैं, वृक्षों के भी कान होते हैं और हवा के भी कान होते हैं। शेख सादी के शब्दों में, 'दीवारम् गोश दारद'।

४३ 'बहुत गई, थोड़ी रही...'

नट एक जन-जाति का नाम है। ये लोग कहीं पर भी घर बांधकर नहीं रहते। घुमक्कड़ होते हैं। एक से दूसरे गांव, कस्बा और शहर में घूमते हुए अपना खेल दिखाकर जीविकोपार्जन किया करते हैं।

आजकल सर्कस में जिस तरह खेल दिखाये जाते हैं, कुछ-कुछ उसी तरह के खेल नट-जाति के लोग दिखाते हैं; लेकिन इनके पास साधनों का सर्वथा अभाव हैं फिर भी ये लोग बाज-बाज खेल ऐसा दिखा जाते हैं कि देखनेवाले दांतों-तले अंगुली दबा लेते हैं।

आर्थिक दृष्टि से इस जाति के लोग वहुत कमजोर होते हैं। इसलिए इनके लिए एक कहावत है—"कद नटणी वांस चढ़ै, कद भोजन पावै।" याने कल के खाने को भी इनके पास कुछ नहीं होता। नित्य कमाते हैं, नित्य खाते हैं।

नटों-सम्वन्धी एक कहानी सुन लीजिए !

एक था नट, एक थी नटी। उनके एक लड़का था। उस लड़के से वे लोग 'जमूरे' का काम लेते थे। दोनों नट-नटी अपने फन में वहुत ही दक्ष थे। यह 'जमूरा' भी उनका अच्छा सहायक था। जहां भी ये लोग जाते, इनके खेल की अच्छी सराहना हुआ करती। खेल समाप्त होने पर नटणी वांस पर चढ़कर जव पैसा मांगती तो यह मार्मिक दोहा कहा करती :

वांस चढ़ी नटणी कहै, हुआ न नट जो कोय।
मैं नटकर नटणी हुई, नटै सो नटणी होय ॥[1]

होते-करते ये लोग एक ऐसे राजा के गांव में पहुंचे, जो कि निहायत कंजूस था—इतना कंजूस कि दहेज देने के डर से उसने अपनी लड़की का विवाह भी नहीं किया था। उस राजा के नगर में जाकर इस नट-दम्पती ने अपना खेल दिखाना शुरू किया। लोगों को इनका खेल इतना पसन्द आया कि वह एक मोहल्ले से दूसरे मोहल्ले में और दूसरे से तीसरे मोहल्ले में, इस तरह कई दिन तक चलता रहा। लोगों ने जाकर राजा के सामने इनके खेल की तारीफ की और कहा, "महाराज, एक दफे इनका खेल आपके यहां भी होना चाहिए।"

चूंकि राजा कंजूस था, इसलिए टालता रहा; लेकिन जव लोग वहुत ही पीछे पड़ गए तो आखिर एक दिन उसने स्वीकृति दे दी।

नट-नटी ने पूरे जोश-खरोश के साथ अपनी आत्मा इस खेल में उंडेलकर काम आरम्भ किया। सारे लोग 'वाह-वाह' कर उठे, लेकिन राजा तो गुमसुम बैठा रहा, क्योंकि अगर वह खेल को सराह देता, तो कुछ-न-कुछ

१. वांस पर चढ़ी हुई नटणी कहती है कि अगर किसीके पास देने को कुछ हो, तो नटना मत। मैं किसी समय नट गई थी, सो मुझे नटणी होना पड़ा, और जो नटेगा उसे भी अगले जन्म में नटणी होना पड़ सकता है।

नट को देना पड़ता।

काफी देर हो गई और नटणी थक गई तो बोली :

रात घड़ी भर रह गई, पिंजर थाक्या आय।
यो राजा रीझै नहीं, मधरी ताल बजाय।।

याने, सारी रात बीत गई है, मेरा शरीर भी थक गया है, यह राजा रीझने वाला है नहीं, व्यर्थ ही क्यों इतनी नाच-कूद करते हो, ज़रा ताल को धीमी करो।

उत्तर में नट ने कहा :

बहुत गई थोड़ी रही, थोड़ी भी अब जाय।
नट्ट कहै सुण नट्टणी, ताल भंग क्यूं खाय।।

याने, अधिकांश समय तो बीत चुका है, अब थोड़ा-सा बाकी रहा है। इतने-से के लिए ताल में भंग क्यों पड़े ?

नट का इतना कहना था कि राजकुमारी ने अपने गले का हार उतारकर नट की तरफ फेंक दिया। दूसरे ही क्षण वहां बैठे हुए एक साधु ने भी अपना एकमात्र कम्बल नट को दे डाला। फिर राजकुमार ही क्यों पीछे रहनेवाला था ! उसने भी अपना दुशाला उतारकर नट को दे दिया।

राजा को बहुत ही विस्मय हुआ, किन्तु खेल चल रहा था, इसलिए किसीसे कुछ बोला नहीं। खेल समाप्त होते ही उसने राजकुमारी से पूछा, "बेटी, ऐसी क्या बात हुई कि तूने अपना बहुमूल्य हार इस नट को दे डाला ?"

राजकुमारी ने कहा, "मेरा कसूर आप माफ करने का वचन दें, तो मैं बताऊं।"

राजा के वचन देने पर राजकुमारी बोली, "आप अपने मूजी स्वभाव के कारण मेरा विवाह नहीं कर रहे हैं। मैं बहुत दिन तो संयम करके ही रही, लेकिन आखिर जब यौवनरूपी उफला हुआ समुद्र डाटे नहीं डटा तो हारकर मैंने दीवान के पुत्र से मैत्री कर ली और अपनी योजना के अनुसार कल इस घर से सारे जेवरात और जो कुछ धन हाथ लगा, उसे लेकर उसके साथ भागना चाह रही थी। इस नट ने जब कहा, 'बहुत गई, थोड़ी रही, थोड़ी भी अब जाय, नट्ट कहै सुण नट्टणी, ताल भंग क्यों खाय ?' तो मेरी

आंखें खुल गईं और मैंने सोचा कि जब इतने बरस निकाल दिये हैं तो अब कुछ वर्ष और सही। 'ताल भंग क्यों खाय' याने जीवन का क्रम क्यों बिगड़े! ऐसा सोचकर अपनी योजना तो ढहा दी और इस नट को अपना गुरु मानकर गुरु-दक्षिणा के रूप में मैंने अपना हार उसे दे दिया।"

राजा ने साधु से पूछा, "महाराज, आपके पास तो यह एक ही कम्बल था, वह भी आपने इस नट को दे डाला, इसमें क्या रहस्य है?"

साधु ने कहा, "राजन्, साधु का त्यागमय जीवन बिताते-बिताते मेरे मन में इस जीवन के प्रति उपरामता आ गई थी। दूसरों को सुख भोगते देखकर मेरे मन में भी सुख भोगने की लालसा बलवती हो उठी थी। अतः इस नट के वचन ने राजकुमारी के मन पर जो असर डाला, वही मेरे मन पर भी पड़ा।"

फिर राजकुमार से पूछने पर उसने कहा, "महाराज, आपके कंजूस स्वभाव के कारण न तो कहीं सैर-सपाटे पर ही जा पाता हूं और न किसी प्रकार का सुख भोग सकता हूं। अतः मेरे मन में आपको मारकर राजगद्दी पर बैठने का लालच हो गया था। इस नट के वचन ने मेरी आंखें खोल दी हैं। मैंने भी इसे गुरु-दक्षिणा के रूप में ही अपनी शाल उतारकर दी है।"

राजा को अपने जीवन के प्रति बहुत ग्लानि हुई। दूसरे ही दिन उसने राजकुमारी का विवाह दीवान के पुत्र से कर दिया और राज्य अपने पुत्र को देकर स्वयं भजन-स्मरण में लग गया।

४४ बांदी की चतुराई

एक राजा था। उसके सात रानियां थीं। सातों रानियों में आपस में अच्छा स्नेह-सम्बन्ध था, जो कि आपस में सौतों में नहीं हुआ करता। दिन के समय सातों एक साथ ही रहतीं और एक-दूसरे के सुख-दुःख में काम आया करतीं।

एक वार की वात है कि राजा शिकार खेलने गया तो वह काफी दूर निकल गया। पास ही एक किसान का खेत था। खेत में एक मोटा-सा वृक्ष देखकर उसके तने से अपना घोड़ा वांध दिया और वहीं पर विश्राम करने लगा। राजा की आंख खुली तो देखता क्या है कि किसान की पत्नी, जो कि गर्भवती थी, चिलचिलाती धूप में खेत का काम कर रही है। काम करते-करते किसान-पत्नी को प्रसव-पीड़ा उठी और उसने वहीं लेटकर एक वच्चे को जन्म दे दिया। थोड़ी देर तो वह लेटी रही, फिर उस वच्चे को लेकर अपने घर की ओर चल पड़ी।

राजा को इस पर वड़ा आश्चर्य हुआ कि यह औरत भी कैसी अजीव है। न तो इसे प्रसव के लिए किसीकी सहायता की जरूरत पड़ी और न घर जाने के लिए ही। यह औरत अगर ऐसा कर सकती है तो रानियां ऐसा क्यों नहीं कर सकतीं? व्यर्थ ही ये लोग इतना आडम्वर क्यों रचती हैं। प्रसव की ही क्या वात है, यों भी ये लोग कुछ काम नहीं करतीं, यहां तक कि उठकर पानी का गिलास भी अपने-आप नहीं लेतीं।

शिकार से लौटकर आते ही राजा ने अपनी रानियों को हुक्म दे दिया कि आज से कोई रानी निठल्ली नहीं बैठेगी। सवको कुछ-न-कुछ अपना काम स्वयं करना पड़ेगा। साथ ही राजा ने किसान की पत्नीवाली घटना भी उन्हें वताई।

रानियों की आदत काम करने की थी नहीं, अतः वे वड़े संकट में पड़ गईं, लेकिन राजा की आज्ञा तो राजा की आज्ञा थी! उसका उल्लंघन कोई कैसे करे! वे सारी ही तरह-तरह के काम करने लगीं। काम करने की आदत न होने से रानियों के हाथों में छाले पड़ गये तथा उन्हें वहुत पीड़ा हुई।

एक दिन वे उदास महल में बैठी थीं, तो एक वांदी ने उदासी का कारण पूछा। रानियों ने सारी कथा वताई। वह वांदी थी कुछ वुद्धिमती। उसने रानियों को सम्वोधित करते हुए कहा, "आप कुछ चिन्ता न करें। मैं आपको एक उपाय वताती हूं। वैसा करने से आपका यह कष्ट थोड़े ही दिनों में दूर हो जायगा। राजा स्वयं ही अपनी आज्ञा को वापस ले लेगा।"

वांदी फिर वोली, "राजा का जो वाग है, उसके माली को आप हुक्म

दे दीजिये कि आज से वह वहां के पौधां और पेड़ों को सींचना वन्द कर दे।"

रानियों ने वैसा ही किया।

कुछ दिन वीतने पर जव वगीचे के पेड़-पौधे मुरझाने लगे, तो राजा ने माली को बुलाकर इसका कारण पूछा।

माली ने कहा, "अन्नदाता, मुझे तो रानियों ने यह आदेश दिया है कि कि वगीचे के पेड़-पौधों को सींचा न जाए।"

राजा नाराज होकर महल में आया और रानियों से पूछा, "तुम लोगों ने अपनी मूर्खता से माली को यह क्या आदेश दे दिया है, जिसके कारण वाग के कोमल पौधे सूख गये हैं, उनके फूल झड़ गये हैं और वे एक-एक करके मरते जा रहे हैं?"

रानियों ने, जोकि उसी वांदी की पढ़ाई हुई थीं, उत्तर दिया, "आप वेकार गुस्सा होते हैं। जंगल के पेड़-पौधों को कौन सींचता है? वे तो नहीं मुरझाते, सदा हरे-भरे लहलहाते रहते हैं।"

राजा ने कहा, "जंगल के वृक्ष और पौधे तथा वगीचे के पौधे एक-जैसे थोड़े हा होते हैं। उनकी तासीर में अन्तर होता है। वे एक तरह से पले हुए होते हैं, जवकि जंगल के दूसरी तरह।"

रानियों ने तुरन्त कह दिया, "जो अन्तर जंगल और वगीचों के वृक्षों तथा पौधों में होता है, वही अन्तर खेत में काम करनेवाली किसानों की औरतों और रानियों में भी तो होता है।"

राजा समझ गया कि मैंने इन्हें कठोर परिश्रम की वात कहकर गलती की थी। दूसरे ही दिन से रानियों का जीवन फिर पहले की तरह सुख और ऐश का हो गया। उन्होंने उस वांदी को भरपूर इनाम दिया।

४५ ||||| 'दोन्यूं तज्या पिराण'[1]

एक मृग और एक मृगी का जोड़ा था। दोनों में वहुत प्रेम था। साथ ही चरा करते, साथ ही पानी पीने को जाते और दिन-रात एक-दूसरे के साथ रहते। एक दिन की बात, जब वे जंगल में चरने गये थे तो एक शिकारी ने वहुत दूर तक उनका पीछा किया। वे शिकारी से तो बच गये, किन्तु अपने घर का रास्ता भूल गये। भटकते-भटकते उनको बड़े जोरों की प्यास लगी और वे पानी की तलाश में इधर-उधर घूमने लगे। पानी न मिलने के कारण दोनों प्यास के मारे व्याकुल हो गये। आखिर खोजते-खोजते उन्हें एक गड्ढा दिखाई दिया जिसमें थोड़ा-सा पानी था—एक प्राणी की प्यास मुश्किल से बुझे, उतना-सा। मृगी ने मृग से कहा कि पानी तुम पीओ और मृग ने कहा कि तुम पीओ। एक पानी पी लेता है तो दूसरे के लिए बच सके, इतना पानी था नहीं। एक पानी पी ले और दूसरा विना पानी रह जाय, यह दोनों में से किसी को भी स्वीकार नहीं था। वे आपस में पानी पीने के लिए एक-दूसरे को आग्रह ही करते रहे। पानी किसीने पिया नहीं। अन्त में प्यास के मारे दोनों के ही प्राण-पखेरू उड़ गये, लेकिन दोनों मरे शान्त चित्त से।

दोनों के शव जहां पड़े थे, वहां से होकर दूसरे दिन प्रातःकाल सैर के लिए जाते हुए जब दो सखियां गुजरीं तो एक सखी को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि ये मृग-मृगी मर कैसे गये। न तो इनके शरीर में किसी रोग के लक्षण दीख पड़ते हैं और न इनके तन वाण से ही विंधे हुए हैं। अतः उसने अपनी सखी से पूछा :

१. प्राण।

खड्यो न दीखे पारधी, लग्यो न दीखे वाण।
मैं तन्नै पूछूं हे सखी, किस विध तज्या पिराण ।।[2]

दूसरी सखी, जो अधिक सयानी थी, सारा माजरा समझ गई और उसने कहा :

जल थोड़ो नेहो घणो, लग्या प्रीत का वाण।
'तू पी' 'तू पी' करत ही, दोन्यूं तज्या पिराण ।।[3]

४६ लाठी जींकी भैंस

एक किसान हाट से भैंस खरीदकर अपने घर को लौट रहा था। वह अकेला ही था और रास्ते में मिल गया एक डकैत, जिसके हाथ में लाठी थी। मोटी-ताजी भैंस और पाड़ी को देखकर उसके मन में लोभ आ गया। उसने लाठी को जमीन पर जोर से मारते हुए किसान को धमकाया और बोला, "यह भैंस तो मेरी है। कहां लिये जा रहा है? छोड़ दे इसे यहीं और अपना रास्ता नाप!"

ऐसा कहकर लाठी किसान की ओर तानकर बोला, "ज़रा बतला तो भैंस किसकी है?"

किसान ने कह दिया, "आपकी।"

वह डकैत भैंस को लेकर चलने लगा तो किसान ने गिड़गिड़ाकर कहा, "देखो! मैंने अपनी सारी उमर की बची हुई कमाई से यह भैंस खरीदी थी। इसलिए मेरा तो सत ही निकल गया है। मुझसे अब चला भी नहीं जाता।

२. "न कोई शिकारी खड़ा दीखता है, न इनके कोई वाण ही लगा दीखता है। अतः हे सखी, मैं तुमसे पूछती हूं कि इन्होंने प्राण कैसे तजे?"
३. "पानी कम था और स्नेह ज्यादा था, अतः प्रीत के बाण इन्हें लगे हैं। एक-दूसरे को पानी पीने का आग्रह करते-करते दोनों ने प्राण तज दिये हैं।"

भैंस तो तुमने ले ही ली, ज़रा मेहरवानी करके मुझे लाठी दे दो तो इसके सहारे मैं किसी तरह गिरता-पड़ता अपने घर तो पहुंच जाऊं।"

डकैत उसकी चाल समझा नहीं और सोचा कि वेचारे की भैंस खोंसी है, तो इसे घर पहुंचने के लिए लाठी तो दे ही देनी चाहिए। उसने लाठी किसान को थमा दी।

अव किसान की वारी थी। उसने लाठी घुमाकर मारी डकैत के सिर पर, जिससे वह घायल होकर वहीं गिर पड़ा। किसान ने भैंस का रस्सा उससे छीनते हुए कहा, "वोल, भैंस किसकी ?"

डकैत ने कहा, "जिसकी लाठी," यानी जिसकी लाठी, उसकी भैंस।

राजस्थान में आमतौर पर 'जिसकी' शब्द की जगह 'जींकी' या 'जेकी' वोला जाता है और इसी घटना पर उपर्युक्त कहावत चल पड़ी है।

४७ ||||| निन्यानबे का फेर

जो आदमी पैसे के वहुत पीछे रहता है तथा कमाई के काम को इतना महत्व देता है कि अपने आराम का या और किसी दूसरी वात का ज़रा भी खयाल न करके केवल पैसे की वात सोचता रहता है और उसीके लिए काम करता रहता है, उस आदमी के लिए यह कहावत काम में लाई जाती है। इसके पीछे एक कहानी है, जो इस प्रकार है :

दिल्ली शहर में एक व्यापारी रहता था। उसके पास धन काफी था, लेकिन वह कभी आमोद-प्रमोद में या सत्संग में दो क्षण भी नहीं विताता था। सवेरे से लेकर रात तक कमाई का ही काम करता रहता था तथा कमाई की ही वात सोचता रहता था।

उसकी हवेली के पीछे ही एक 'भड़भूजा' रहता था। वह दिन-भर में मुश्किल से इतनी-सी कमाई कर पाता कि मियां-वीवी और बच्चे दो जून रोटी खा लें। फिर भी उसमें इतनी मस्ती थी कि शाम को दुकान से लौटता

तो ढोलक लेकर बैठ जाता और रात को सोते समय तक घण्टों अपनी पत्नी के साथ इधर-उधर की चर्चा किया करता। मियां-बीवी खूब हँसते और मौज से रहते थे।

व्यापारी की पत्नी को भड़भूजे के जीवन पर ईर्ष्या हुआ करती, "एक तो यह भड़भूजा है, जिसके पास धन के नाम पर एक छदाम भी नहीं, टूटी हुई 'टपरी' में रहता है और सोने के लिए चारपाई भी नहीं है, फिर भी कितना मस्त है, और कितना सुखी गृहस्थ है उसका ! और एक अपन हैं, जिनके पास इतना धन है, परन्तु अपना जीवन कितना नीरस है ! पतिदेव सवेरा होते ही दुकान चले जाते हैं और फिर दोपहर को खाना खाने लौटते हैं तो बहुत ही थके हुए होते हैं—मन से भी और तन से भी। न कभी हँसते हैं, न कभी कोई चर्चा करते हैं, न कभी बच्चों को प्यार करते हैं, न कभी मेरे सुख-दुःख की बात ही पूछते हैं।"

आखिर एक दिन उसने अपने पति से कहा, "धन का इतना भी क्या मोह कि जिसके पीछे आपको न तो घरवालों की सुध है और न अपने तन की ही। अपने ही मकान के पास जो भड़भूजा रहता है, उसके जीवन को भी ज़रा देखो। उसके बच्चे फटे कपड़ों में भी किस तरह चहकते फिरते हैं और उसकी पत्नी सारे दिन ही कोई-न-कोई धुन गुनगुनाती रहती है । वह स्वयं दुकान से जब लौटता है तो ढोलक लेकर बैठ जाता है और कितनी तन्मयता से, कितनी मधुर आवाज में भजन आदि गाया करता है और उसकी पत्नी भी उसका साथ दिया करती है।"

व्यापारी ने कहा, "यह आदमी अभी निन्यानवे के फेर में नहीं पड़ा है। जिस दिन निन्यानवे के फेर में पड़ जायगा, उसी दिन सब राग-रंग भूल जायगा।"

पत्नी ने पूछा, "यह निन्यानवे का फेर क्या होता है ?"

व्यापारी ने कहा, "ठहरो, मैं तुम्हें वह दिखाये देता हूं।"

दूसरे दिन रात के समय व्यापारी ने एक रूमाल के पल्ले में बांधकर निन्यानवे रुपये चुपके-से उस भड़भूजे के घर में फेंक दिये। प्रातःकाल भड़भूजा उठा तो उसने वह पोटली देखकर भगवान को धन्यवाद दिया और जब रुपये गिने तो उसने सोचा, "भगवान ने रुपये देकर भी एक रुपये की

कमी क्यों रख दी ? लेकिन खैर, एक रुपया अपन तो भी कमाकर इनमें मिला लेंगे और इस तरह पूरे सौ रुपये हो जायंगे।"

अव तो दूसरे दिन से वह भड़भूजा ज्यादा देर काम करने लगा, खाने में कंजूसी करने लगा और इस तरह एक आना, दो आना रोज़ ही वचाने लगा। आमोद-प्रमोद, राग-रंग और मस्ती की तो सारी वात ही भूल गया और पड़ गया निन्यानवे को सौ करने के फेर में। यही हाल उसकी वीवी का हुआ तथा इसका असर वच्चों पर भी पड़ा।

दो-चार दिन वीते होंगे कि व्यापारी की पत्नी ने अपने पति से पूछा, "वात क्या हुई ? न तो उस पड़ौसी के घर से ढोलक-मंजीरों की ही आवाज सुनाई पड़ती है और न भजन-आदि की धुन ही। वच्चों की धमा-चौकड़ी भी कम हो गई है।"

व्यापारी ने कहा, "वह अव निन्यानवे के फेर में पड़ गया है। जव तक उसको पैसे की भूख नहीं थी, तवतक वह खूव आनन्द से रह रहा था। मैंने उसकी वह भूख जाग्रत कर दी है। इसलिए अव न तो तुम उसके यहां से भजन ही सुनोगी, न उसकी पत्नी की गुनगुनाहट और न वच्चों का शोर-शरावा। अव तो जो अपने घर का हाल है वही उसके घर का हाल समझ लो।"

फिर उसने अपनी पत्नी को सारी वात वताई, तो पत्नी ने कहा, "उसे तो केवल एक रुपये की ही भूख है, सो वह तो दसेक दिन ही में पूरी हो जायगी।"

व्यापारी वोला, "तुम भी कैसी नादानी की वात करती हो ! ज्योंही उसके पास एक सौ रुपये इकट्ठे हो जायंगे, उसकी भूख एक हजार की हो जायगी और इस तरह वढ़ती ही जायगी। धन की भूख जाग्रत हो जाने के कारण करके इस भड़भूजे की सुख-शान्ति और मस्ती नष्ट हो गई है—अव वह वापस आने की नहीं।"

धन की इसी अशेष लालसा के वारे में सुन्दरदासजी का एक सवैया प्रसिद्ध है :

जे दस वीस पचास भये, शत हजार तो लाख मंगे,
करोड़ अरव खरव भये, पृथ्वीपति होन की चाह जगे।

स्वर्ग पताल को राज मिले, तृष्णा दिन हूं दिन आग लगे,
सुन्दर एक संतोष विना, शठ, तेरी तो भूख कबहुं न भगे ।।

कठोपनिषद् में भी कहा है--"न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः ।" याने धन से मनुष्य की तृप्ति कभी नहीं होती ।

४८ 'ढेढ़ नै सुरग में भी बेगार'

यों तो कुछ वर्ष पहले राजा और जागीरदार अपने यहां कोई 'ओसर-मोसर'[1] होता था तो सभी लोगों से बेंगार लेते थे, लेकिन डोम और ढेढ़ जाति के लोगों से तो बराबर ही बेगार ली जाती थी। इसीलिए एक कहावत भी चल पड़ी है कि "ढेढ़ नै सुरग में भी बेगार।"

एक बार की बात है, एक डोम अपनी ससुराल जा रहा था। ससुराल वालों का गांव उसके गांव से दसेक कोस दूर था। डोम सात-आठ कोस गया होगा कि उसके पांवों ने जवाब दे दिया और वह सुस्ताने के लिए जहां था, वहीं बैठ गया। मन-ही-मन खुदा से प्रार्थना करने लगा, "हे खुदा, अगर तू मुझे एक घोड़ी बख्श दे तो तेरा अहसान कभी न भूलूं।"

इस तरह प्रार्थना करता हुआ वह आँखें मूंदे हुए बैठा था। संयोग की बात कि एक जागीरदार तभी उसके पास से होकर गुजरा। जागीरदार की घोड़ी ने वहीं पर रुककर एक बछेड़ी को जन्म दिया, तो जागीरदार ने उस बैठे हुए डोम से कहा, "अबे डोमड़े, बैठा क्या देखता है, इस बछेरी को सिर पर उठा और अगले गांव तक ले चल।"

डोम बेचारा क्या करता ! उसे तो जागीदार की बेगार साधनी ही पड़ी। उसने बछेरी को सिर पर उठाया और चल पड़ा।

जागीरदार को तो वह कुछ कह नहीं सकता था, लेकिन अपने मन में

1. काई विशेष अवसर।

खुदा से वोला, "ए खुदा, तुम्हें खुदाई करते इतने वरस हो गये, पर अभी तक तुम्हें यह होश भी नहीं आया कि घोड़ी मांगनेवाला टांगों के नीचे घोड़ी मांगा करता है, सिर के ऊपर नहीं।"

लेकिन खुदा के घर उसका वह उलाहना पहुंचा पार नहीं पड़ा, क्योंकि खुदा को उलाहना देने वाले और भांति-भांति की मांग करने वाले लोगों की संख्या तो अनेकानेक और वह बेचारा अकेला ! किस-किसका उलाहना सुने और किस-किसकी क्या-क्या मांग पूरी करे ? वाज दफे तो परस्पर-विरोधी मांगें भी होती हैं जैसे एक चोर की चाह तो यह होती है कि खुदा आज रात को ऐसी मेहरवानी करे कि उसके हाथ अच्छा-सा चोरी का धन लगे। जव कि धनपति की मांग यह होती है कि उसका धन सुरक्षित रहे। इसलिए खुदा जो भी करता है, अपने मन के अनुसार ही करता है।

४९ ‘सासरो सुख बासरो’

एक जाट अपनी पत्नी को लेने के लिए ससुराल गया था। वहां पर उसकी अच्छी खातिरदारी हुई। जाट ने सोचा, यहां कुछ दिन और रहना चाहिए। यहां जैसा भोजन मिलता है तथा अपनी जितनी पूछताछ होती है, उतनी अपने घर पर कहां। उसने दीवार पर लिख दिया, "सासरो सुख वासरो।"

दूसरे दिन उसकी साली-सलहजों ने देखा तो सोचा कि यह तो निगोड़ा यहां कुछ ज्यादा दिन टिकने का इरादा रखता दीखता है। अतः उन्होंने उसी लाइन के नीचे दूसरी लाइन लिख दी, "दिनां तीन को आसरो।"

जंवाईजी ने सुवह जव यह लाइन पढ़ी तो सोचा कि ये लोग तो उसे जल्दी ही टरकाना चाह रहे हैं, इसलिए उसने तीसरी लाइन लिखी, "रहस्यां मास छः मास।"

रात को साली-सलहजों ने जव तीसरी लाइन पढ़ी, तो उन्होंने लिख

दिया, "देयां खुरपी खुदास्यां घास।" याने, तीन दिन रहें तबतक तो आप 'पावणा'[1] की तरह रह सकते हैं, आपकी अच्छी खातिरदारी की जायगी; लेकिन अगर ज्यादा दिन रहना है तो, जिस तरह इस घर के दूसरे लोग रह रहे हैं, उसी तरह आप भी रहिये। खेत-खलिहानों में काम करिये और जैसी 'रावड़ी-रोटी' हम लोग खाते हैं, वैसी आप भी खाइये।

जंवाईजी तो तीन दिन पूरे होते ही अपना विस्तर गोल करके पत्नी-सहित अपने घर चले आये, लेकिन 'आती दफे' उन्होंने अपनी सास से यह जरूर पूछा, "मुझे तीन दिन बाद रखने से आप लोगों ने एक तरह से जो इन्कार किया, इसका कारण क्या है?"

सास ने समझाया, "जंवाई किसीके घर पर आकर ज्यादा दिन टिके, तो गांव में चर्चा शुरू हो जाती है।"

जंवाईजी ने कहा, "आपकी बेटी हमारे यहां आती है, तो वह तो महीनों-वरसों रहती है, हमारे यहां तो कोई चर्चा नहीं होती।"

सास के पास इसका कोई उत्तर नहीं था।

५० ||||| 'ऊंट बिलाई ले गई'

एक जाट था। उसके पास कई गाय-भैंस, ऊंट-बैल आदि थे। अच्छी खेती थी। एक ऊंट उसके पास इतना अच्छा था कि उसके ऊपर चढ़नेवाले के पेट का पानी नहीं हिले। दौड़ने में वह घोड़ों को भी मात करता था। इससे टक्कर लेनेवाला कोई ऊंट आस-पास के गांवों-शहरों में कहीं नहीं था।

चोरों की उस ऊंट पर कई दिनों से आंख लगी हुई थी, लेकिन उसे 'उचकाने' का कोई मौका उन्हें नहीं मिलता था, क्योंकि वह जाट उस ऊंट के

1 पाहुना, मेहमान।

पास ही 'गुवाड़'[१] में खाट घालकर सोया करता था।

संयोग की बात कि एक दिन चौधरी को अपनी लड़की के वीमार ससुर को देखने के लिए पास ही एक दूसरे गांव में जाना पड़ा। उसका इरादा शाम तक लौट आने का था। लेकिन समधी की वीमारी अधिक बढ़ी हुई होने के कारण वह उस दिन वापस नहीं लौट सका।

चोरों को तो मौका मिल गया। वे आधी रात ढलते-ढलते ऊंट को गुवाड़ में से खोलकर ले गये। ये चोर गांव के काजीजी से मिले हुए थे। चोरी के धन में 'चौथ'[२] काजीजी की चुकती थी।

दूसरे दिन चौधरी वापस अपने गांव आया। आते ही सबसे पहले वह गुवाड़ में पहुंचा। ऊंट को वहां न देखकर उसके होश उड़ गये। वह भागा-भागा अपने घर गया और उसने चौधराइन से ऊंट के बारे में पूछताछ की, तो उत्तर मिला, "मुझे तो कुछ भी मालूम नहीं है।" चौधरी भागा-भागा गया काजीजी के पास और अपना ऊंट चोरी चले जाने की वात कही।

काजीजी को सारी वात का पता तो था, क्योंकि चोरों ने उन्हें पहले ही खबर दे दी थी, लेकिन फिर भी वह भोले वनते हुए वोले, "अभी पता लगवाता हूं। यों ऊंट को कौन ले जायगा।"

काजीजी ने खोज[३] देखनेवाले लोगों को वुलाकर कहा, "तुम चौधरी के साथ जाओ और देखकर पता लगाओ कि ऊंट कहां गया।"

ये खोज देखने वाले लोग भी चोरों से और काजीजी से मिले हुए थे। सारा ही खेल मिलीभगत का था। खोज देखनेवाले वे लोग चौधरी के साथ हो लिये।

वे चौधरी की गुवाड़ में गये और जमीन पर पांवों के निशान देखते-देखते वाहर पांच-चार सौ कदम आये, फिर वापस गुवाड़ में गये। इस तरह दो-तीन चक्कर लगाकर वापस काजीजी के पास पहुंच गए। साथ में चौधरी भी था।

काजीजी के पूछने पर उन्होंने वताया, "हुजूर, वहां पर तो एक विल्ली के आने और जाने के खोजे मिलते हैं। ऊंट के खोज भी साथ ही हैं। थोड़ी

१. पशुओं को वांधने का कांटों से घिरा स्थान। २ चौथाई हिस्सा। ३. निशान

दूर आगे वढ़ने पर ऊंट और विल्ली दोनों के ही खोज एक वारात के खोजों में मिल जाते हैं, अतः आगे नहीं वढ़ते हैं।"

काजीजी ने कह दिया, "चौधरी, तेरे ऊंट को तो विल्ली उठाकर ले गई है। इसका पता लगाना मुश्किल है।"

चौधरी तो वेचारा सन्न रह गया, लेकिन काजीजी के सामने कुछ कहने की हिम्मत तो थी नहीं, अतः 'हां-हां' करके चुपचाप अपने घर लौट आया। घर पर जव चौधराइन ने पूछा कि क्या हुआ, तो चौधरी ने नीचे लिखा दोहा कहा, जो आज भी कहावत के रूप में प्रचलित है :

जाट कहे सुन जाटणी, इसी गांव में रहणा।
ऊंट विलाई ले गई, तो 'हांजी-हांजी' कहणा॥

काजीजी के इसी तरह के न्याय की एक और कहानी है।

एक वार काजीजी के वैल और एक तेली के वैल की टक्कर हो गई। चूंकि काजीजी का वैल तगड़ा था, अतः उसने तेली के वैल को बुरी तरह घायल कर दिया। तेली को पता लगा, तो वह काजीजी के पास शिकायत करने पहुंचा।

सारी वात सुनकर उन्होंने कहा कि यह तो जानवरों का मामला है। इसमें कोई क्या कर सकता है?

तेली वापस अपने घर चला आया, लेकिन उसने मन में यह ठान लिया कि इसका वदला अवश्य लूंगा।

वस दूसरे ही दिन से उसने अपने बैल को खूव दूध-घी पिलाना शुरू कर दिया। थोड़े ही दिनों में वह वैल खासा मोटा और वलशाली हो गया। तेली ने उसके सींग भी तीखे वना दिये। फिर एक दिन मौका देखकर उसने अपने उस वैल को काजीजी के वैल से भिड़ा दिया। काजीजी का वैल चित्त आया तो तेलीवाले वैल ने उसके पेट में सींग घुसेड़ दिये। काजीजी का वैल वहीं ढेर हो गया।

काजीजी को पता लगा तो उन्होंने तेली को अपनी कचहरी में वुलाया और वोले, "तेरे वैल ने मेरा वैल मार डाला है, तुझे हर्जाना देना होगा।"

तेली ने कहा, "हुजूर, यह तो जानवरों का मामला है। इसमें कोई

क्या कर सकता है ?''

तब काजी ने कहा, "ऐसा कहने से नहीं चलेगा। मैं दण्ड-विधान की किताब देखकर बताता हूं कि तुम्हें क्या दण्ड दिया जाना चाहिए। हमारे यहां तो दूध-का-दूध और पानी-का-पानी होता है।''

फिर अपने पास पड़ी हुई तथाकथित दण्ड-विधान की किताब उठाई और उसे उलट-पुलटकर बोले, "अबे तेली, सुन :

लाल किताब उठ बोली यों,
तेली, बैल लड़ाया क्यों ?
खिला-पिलाकर किया मुसंड,
बैल का बैल और सौ रुपए दंड !''

पता नहीं, यह लाल किताब माओत्से तुंग वाली थी, या कोई दूसरी।

५१ ||||| 'दाता दे, भण्डारी को पेट फूटै'

एक गरीब ब्राह्मण था। उसकी पत्नी ने एक बार उससे कहा, "तुम राजा के पास जाओ और एक भैंस की याचना करो। राजा उदार है, वह दे देगा। घर में दूध-दही न होने से बच्चे बहुत बेहाल हो रहे हैं।''

ब्राह्मण ने उसकी बात मान ली और वह राजा के पास गया। वहां जाकर उसने राजा को आशीर्वाद दिया और उससे अपने दुःख-दारिद्र्य की बात कही। साथ ही, उसने एक भैंस की याचना भी की।

राजा ने अपने भण्डारी से कहा, "ब्राह्मण को एक अच्छी-सी भैंस दिला दो।''

भण्डारी एक मोटी-ताजी लेकिन बूढ़ी भैंस ले आया, जो कि भविष्य में कभी ब्यानेवाली नहीं थी।

राजा तो भण्डारी की बेईमानी की बात समझ नहीं सका, लेकिन ब्राह्मण तुरन्त समझ गया कि भैंस बूढ़ी और निकम्मी है।

ब्राह्मण भैंस के कान के पास अपना मुंह ले गया और कुछ गुनगुनाया, फिर भैंस का मुंह अपने कान की तरफ किया, तो राजा ने पूछा, "हे ब्राह्मण देवता, इस भैंस से क्या बातें कर रहे हो ?"

ब्राह्मण ने कहा, "राजन्, भैंस को मोटी देख मेरे मन में यह कल्पना हुई कि यह गर्भवती है, अतः मैंने कान में इससे पूछा — सगर्भा ? याने तुम गर्भवती हो क्या ? इसने रोषभरी वाणी में मुझसे कहा कि मेरे पति महिषासुर का वध भवानी दुर्गा ने त्रेता-युग में किया था, तबसे मैं वैधव्य धर्म का पालन कर रही हूं। उन दिनों कुछ जातियों में तो विधवा-विवाह प्रचलित था, जैसे मन्दोदरी ने विभीषण से विवाह कर लिया था और तारा ने सुग्रीव से। लेकिन हमारी महिष जाति में विधवा-विवाह का प्रचलन नहीं था। पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर अथवा स्वामी दयानन्द सरस्वती का जन्म उस युग में हुआ नहीं था, नहीं तो शायद हमारी जाति में भी विधवाओं को पुनर्विवाह की छूट मिल जाती। इस तरह युगों-युगों से मैं तो वैधव्य का दुःख झेलती हुई अपना धर्म निभा रही हूं और उसपर तुम सगर्भा होने का कलंक लगाते हो! तुम्हें लाज नहीं आती ? मेरी हालत तो भर्तृहरि के शब्दों में यह है कि 'अंगं गलितं दसन-विहीना।' मैं जो मोटी दीख रही हूं, उसका कारण तो यह है कि मेरी काया वात-रोग से फूली हुई है।"

राजा सारी बात समझ गया और उसने भण्डारी को बहुत उलाहना दिया।

राजा ने एक अच्छी-सी दूसरी भैंस ब्राह्मण को दिलवाई और उसकी चतुराई से प्रसन्न होकर उसने कहा, "आपको जब भी किसी चीज की आवश्यकता हो, निःसंकोच आ जाया कीजिये, आपका घर है।"

ऐसे भण्डारी के लिए ही यह राजस्थानी कहावत लागू पड़ती है —
'दाता दे, भण्डारी को पेट फूटै।'

५२ ||||| 'सांच को ग्रांच नहीं'

बात काफी पुरानी है, लेकिन उस घटना को लेकर जो उपर्युक्त कहावत चल पड़ी थी, वह आज भी हर आदमी की जबान पर है। घटना इस प्रकार है :

काशी से थोड़ी ही दूर पर एक गांव था, जिसमें अधिकतर घर बुनकरों के थे। इसी गांव का एक बुनकर अब्दुलगनी बहुत ही आस्तिक था। वह मानता था कि भगवान ही सब-कुछ करता है, इन्सान तो उसके हाथ की कठपुतली है। हर नमाज के बाद वह यह पद बोला करता, "साईं ते सब होत है, बंदे ते कछु नाहिं। राई ते परबत करै, परबत राई माहिं ।।"

अब्दुलगनी अपना धन्धा बहुत ही सच्चाई के साथ चलाता था। उसने अपनी उमर में कभी किसी के साथ छल-कपट नहीं किया था, न किसी को ठगा था। वह कत्तिनों से ऊन का धागा खरीदता और कम्बल तैयार करके काशी में जाकर बेच आता। ऐसा करने में उसकी जितनी कमाई होती, उससे उसके कुटुम्ब की मोटे-झोटे खाने-पहनने की गुजर-बसर तो हो जाती, साथ ही आये हुए साधु-संत का आतिथ्य भी वह आदरपूर्वक कर दिया करता। भगवान ने उसकी यह विनती पूरी-पूरी सुन रखी थी :

सांई एता दीजिए, जामें कुटुम समाय।
मैं भी भूखा ना रहूं साधु न भूखा जाय ।।

अब्दुलगनी ने अपनी उमर में कभी कुछ संग्रह नहीं किया था, न उसे कोई कमी रहती थी।

अभाव और संग्रह, दो विरोधी तत्व होते हुए भी एक साथ ही चलते हैं, याने अगर कोई आदमी अपनी जरूरत से ज्यादा संग्रह न करे, तो दूसरे लोगों को अभाव का सामना भी न करना पड़े। आज दुनिया में जो अभाव और दैन्य देखने में आता है, वह दूसरी तरफ अति संग्रह का ही नतीजा है। एक तरफ पहाड़ होता है तो दूसरी तरफ खड्डा भी, लेकिन अब्दुलगनी के जीवन में न पहाड़ था, न खड्डा। उसे और उसके कुटुम्बियों को समतल भूमि पर रहने और चलने का सुख और आनन्द भी प्राप्त था—ऐसी समतल भूमि, जहां न गिरने का डर था, न ठोकर लगने का।

अब्दुल गनी कबीरपंथी गृहस्थ था। उसके घर पर अक्सर सत्संग हुआ करता और कबीर की साखियां गाई जाया करतीं। स्वयं अब्दुल गनी अक्सर गाया करता :

चोखो विणज व्यापार करीजै,
आईनै दिसावरी रे जपि लाहां लीजै।

और वह ऐसा ही करता भी था।

वह अपना व्यापार बड़ी ईमानदारी के साथ करता था। उसके बनाये हुए कम्बल माप-तौल में सब तरह से सदा इकसार होते थे। सेवाभावी वह इतना था कि गांव में कोई भी आदमी बीमार पड़ जाता, तो वह रात-रात जागकर उसकी सेवा-परिचर्या किया करता।

एक बार की बात कि वह अपने बनाये हुए दो कम्बल काशी में एक बजाज के हाथ बेचकर आया। बजाज बड़े-बड़े तिलक-छापे तो लगाया करता, लेकिन 'मन मैला, तन ऊजला' के अनुसार व्यवहार में सच्चा नहीं था। दो-तीन दिन बाद जब अब्दुल गनी उस बजाज के पास पैसा मांगने गया तो बजाज ने कहा, "मेरी दुकान में तो कल रात आग लग गई थी और तुम्हारे कम्बल भी उस आग में स्वाहा हो गये, इसलिए मैं पैसे कहां से दे सकता हूं? तुम चाहो तो बाजार के दूसरे दुकानदारों से पूछ सकते हो।"

अब्दुलगनी ने कहा, "मैं सच्चाई से व्यापार करता हूं। जीवन में किसी के साथ कभी छल-कपट भी नहीं करता, इसलिए मेरे बनाये हुए कम्बल आग में नहीं जल सकते।"

दोनों में खासा वाद-विवाद हुआ। वाद-विवाद ज्यादा बढ़ा तो वहां पर आदमियों की भीड़ लग गई। दूसरे जो दो-चार दुकनदार वहां थे, उन्होंने जुलाहे से कहा, "बुनकरजी, कल रात को इनकी दुकान में आग लग गई थी, यह तो हमने भी देखा है। आग लगने की बात झूठ नहीं है।"

अब्दुल गनी ने अपना दावा फिर ऊंची आवाज में दोहराया, "दुकान में आग चाहे लगी हो, लेकिन सत्य को आग नहीं जला सकती। मेरे कंधे पर यह कम्बल पड़ा है, इसे आप लीजिये और जलाकर देख लीजिये। अगर यह जल जाय तो मैं मान लूंगा कि मेरे दूसरे कम्बल भी, जो बजाजजी के यहां रखे थे, जल गये।"

वह वजाज एक वार तो थोड़ा सकपकाया, लेकिन फिर हिम्मत वटोर कर उसने कहा, "यों नहीं, इसे मिट्टी के तेल में भिगोकर जलाऊंगा, क्योंकि मेरी दुकान में भी किरोसिन तेल पड़ा हुआ था, उससे भीगकर ही तुम्हारे कम्वल जले थे।"

अव्दुल गनी ने कहा, "मुझे इसमें भी कोई ऐतराज़ नहीं है।"

वाद-विवाद और तेज हुआ तो भीड़ और अधिक इकट्ठी हो गई। सवके सामने अव्दुल गनी ने अपने कंधे पर ओढ़ा हुआ कम्वल उतारकर दे दिया। कम्वल को तेल में अच्छी तरह भिगोकर जमीन पर डाला गया और उसमें आग लगा दी गई।

थोड़ी देर में भीड़ के सारे लोग फटी-फटी आंखों से देखते क्या हैं कि तेल जल गया है, आग वुझ गई है और कम्वल ज्यों-का-त्यों वेदाग़ है। 'होलिका जल गई है, प्रह्लाद वच गया है।' झूठ जल गया, सत्य ज्यों-का-त्यों सिर ऊंचा किये सामने खड़ा है।

भीड़ में से एक आदमी चिल्लाया, "सांच को आंच नहीं!"

और उसी दिन से यह वाक्य कहावत के रूप में चल पड़ा, जो आज भी प्रचलित है और कल भी रहनेवाला है।

सत्य न जलता है, और न गलता है। वह शाश्वत है, अविनाशी है। सत्य ही नारायण है और नारायण ही सत्य है। दोनों अविभाज्य हैं—'गिरा अर्थ जलवीचि सम, कहिअतु भिन्न न भिन्न।' यही कारण है कि घर-घर में आज भी हर महीने सत्यनारायण का व्रत रखा जाता है और कथा कही जाती है। सत्यनारायण का व्रत, याने सत्य-व्यवहार का संकल्प। भक्तों में श्रेष्ठ देवर्षि नारद के पूछने पर विष्णुभगवान वेदव्यास-रचित श्रीमद्भागवत में जो पहला श्लोक है, उसमें सत्य की ही महिमा कही गई है। योगेश्वर श्रीकृष्ण के जन्म पर जव नन्द वावा के घर सारे देवताओं ने आकर उनकी स्तुति की थी, तव ब्रह्माजी ने उनके सत्य-रूप का ही गुणगान किया था।

सत्यवादी वुनकर की जीत हुई। वजाज ने सिर नीचा करके कहा, "मेरी दुकान में आग लग गई थी, यह वात सच है, किन्तु इस जुलाहे के क़म्वल उस समय दुकान में नहीं थे, मेरे घर पर पड़े थे, इसलिए वे जले नहीं हैं।"

ऐसा कहकर उसने जुलाहे को कम्वलों की कीमत चुका दी और उस

दिन से वजाज भी सत्य के मार्ग पर चलने लगा।

५३ जैसी संगत, वैसी बुद्धि

एक ब्राह्मण अपनी पत्नी के कलह-भरे स्वभाव के कारण और उसके नित्य के व्यंग्य-वाणों से दुःखी होकर अपना घर छोड़कर किसी दूसरे गांव को जा रहा था। रास्ते में घना जंगल पड़ता था। दैवयोग से ब्राह्मण रास्ता भूल गया और एक सिंह की गुफा के पास जा निकला।

सिंह वहां बैठा हुआ था। पास में उसका दीवान भी, जो कि एक हंस था, बैठा हुआ था।

दूर से ही सिंह को देखकर ब्राह्मण के होश उड़ गये और वह थर-थर कांपने लगा। उसके पांव जैसे जमीन में ही 'रुप'[1] गये। न उससे आगे बढ़ते बनता था और न पीछे जाते ही।

ब्राह्मण की यह गति देखकर हंस तुरन्त ताड़ गया कि यह आदमी रास्ता भूलकर इधर आ निकला है, इसकी रक्षा करनी चाहिए। इसलिए ब्राह्मण को पुकारकर बोला, "जोशीजी महाराज, वहीं खड़े कैसे रह गये ? आइये, आइये !"

ब्राह्मण को ढाढ़स बंधा और वह शेर के पास चला गया।

वहां जाकर उसने अपने दोनों हाथ ऊंचे करके सिंह को आशीर्वाद दिया और बोला, "यजमान शतायु हों !"

सिंह ने हंस की ओर देखा और पूछा, "यह क्या माजरा है ?"

उत्तर दिया, "महाराज, यह ब्राह्मण है। आपका कुलगुरु है। इसने आपको दीर्घायु होने और सुखी रहने का आशीर्वाद दिया है। इसे दान-दक्षिणा देने से इसकी आशीष फलवती होगी।"

१. जम गए।

सिंह ने ब्राह्मण को प्रणाम किया। सिंह के पास दो कंगन पड़े हुए थे, वे लाकर ब्राह्मण को दक्षिणा-स्वरूप दे दिये।

ब्राह्मण निहाल हो गया और अपने गांव चला आया। उसने दोनों कंगन अपनी पत्नी को दे दिये। अब पत्नी ने भी कलह करना छोड़ दिया और अपने पति को बहुत आदर और सुख से रखने लगी।

कुछ दिनों बाद वह हंस तो मान-सरोवर चला गया और सिंह ने एक कौए को अपना दीवान बना लिया।

कुछ समय बीता होगा कि ब्राह्मण के मन में फिर लोभ आया। उसने सोचा, एक बार फिर से अपने यजमान सिंह के पास चलना चाहिए तथा दान-दक्षिणा प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

यह सोचकर वह उस सिंह के पास गया। दूर से ही उसने सिंह को बैठा देखा। पास में एक कौआ बैठा था। पुराने परिचय के कारण ब्राह्मण डरा नहीं। वह सीधा सिंह के पास जा पहुंचा और पहले की ही भांति उसे आशीर्वाद दिया।

सिंह ने कौए की ओर देखा और पूछा कि क्या करना चाहिए ? यह अपना कुलगुरु है।

कौए ने कहा, "आप भी कैसी बहकी-बहकी बातें करते हैं! सिंह का भी कभी कोई कुलगुरु होता है ? यह तो आपका भक्ष्य है, चट्ट कर जाइये इसे।"

पर हंस की दी हुई धर्म-भावना सिंह के मन में अभी कुछ शेष थी, इसलिए उसने ब्राह्मण को खाया तो नहीं, लेकिन उसे कुछ दिया भी नहीं, और यह कहते हुए उसे लौटा दिया—

हंसा तो सरवर गया, काग भया परधान।
जा विप्पर घर आपणैं, सिंह किसका जजमान॥

सच ही है, जैसी संगति होती है, वैसी ही बुद्धि भी हो जाती है।

'संगत सार अनेक फल।'

'सोहबते असर।'

'हानि कुसंग सुसंगति लाहू।'

५४ समय का फेर

दो बहिन-भाई थे। उनका घर सब तरह से सुखी था। माता-पिता जीवित थे। अच्छी खेती-बाड़ी थी। समय पाकर बहिन का विवाह पास के किसी नगर में हो गया। थोड़े वर्षों बाद भाई का विवाह भी हो गया। दोनों ही कुटुम्ब सुखी थे, लेकिन समय की गति का किसी को पता नहीं लगता कि कब क्या हो जाय।

भाई 'बोरगत'[1] का काम करता था। एक साल भयंकर अकाल पड़ा। उसके सारे रुपये डूब गये और वह दर-दर का भिखारी हो गया। उसने सोचा कि अपनी बहिन के पास चलना चाहिए, शायद वह अपने ये विपत्ति के दिन कटवा दे।

यह विचार कर वह अपनी बहिन के घर गया। उसने वहां पहुंचकर बहिन की ससुराल वालों को तो खबर नहीं दी, क्योंकि उसे डर था कि अपनी दीन दशा के कारण समधी लोग कहीं उसका अपमान न कर दें, किन्तु अंधेरा पड़ने पर उसने अपनी बहिन की एक बांदी के द्वारा अपने आने की सूचना बहिन को भिजवाई। बहिन को इस बात का पता नहीं था कि भाई विपत्ति में पड़ गया है, लेकिन जब रात को उसके पासखबर पहुंची तो उसका माथा ठनका। उसने सोचा कि कुछ-न-कुछ दाल में काला है, नहीं तो भाई चुपके-चुपके क्यों आता और अपने आने की खबर मुझे लुके-छिपे क्यों देता! अतः उसने बांदी से पूछा, "मेरा भाई कैसी वेशभूषा में आया है तथा उसकी मुख-मुद्रा कैसी है?"

बांदी ने कहा, "बाईजी, क्या बताऊं, आपके भाई तो बड़ी ही दीन दशा में हैं। कपड़े उनके फटे हुए हैं, जूतियाँ टूटी हुई हैं और चेहरे पर उनके हवाइयाँ उड़ रही हैं। शरीर से वे बहुत ही कृश हो गये हैं।"

बहिन ने सोचा, मेरे ससुरालवालों को यह पता लग जायगा कि मेरे पीहर वाले इतनी दयनीय दशा में पहुंच गये हैं, तो मेरा यहां मान घट जायगा। इसलिए इसे चुपचाप यहां से विदा करना चाहिए। ऐसा सोचकर

१. ब्याज पर रुपयों का लेन-देन।

उसने अपनी नौकरानी को बासी रोटियाँ दीं और कहा कि जाकर इन्हें मेरे भाई को दे दो और उससे कह दो कि वह रोटी खाकर पानी पीले तथा किसी दूसरे गांव चला जाय, क्योंकि अगर इस दशा में वह यहां रहा, तो अपने कुटुम्ब के लोगों के सामने मैं छोटी हो जाऊंगी, मेरा मान घट जायेगा।

वांदी ने ऐसा ही किया।

भाई उन रोटियों को अपने साथ लेकर चला गया। थोड़ी दूर जाने पर उसे एक पीपल का पेड़ मिला। उसने उसके नीचे एक गहरा गड्ढा खोदकर उन दोनों रोटियों को गाड़ दिया। विना कुछ खाये-पीये अपमान के जहर का घूंट पीकर वह आगे वढ़ा। थोड़ी दूर जाने पर उसकी ससुराल का गांव रास्ते में पड़ा।

ससुरालवालों को जव सारी हालत का पता चला, तो वे भी कन्नी काट गये। उन्होंने साफ-साफ कह दिया कि लोग आपको इस हालत में देखेंगे तो हमारी मान-मर्यादा घट जायगी। इसलिए आप किसी अनजाने शहर में जाकर कमाई का धंधा कीजिये।

ससुरालवालों से यह दूसरी चोट खाकर वह तिलमिला उठा, लेकिन यह सोचकर चुप रह गया—

रहिमन चुप ह्वै बैठिए, देखि दिनन कौ फेर।
जव नीके दिन आइहैं, वनत न लगिहै वेर।।

वह आगे वढ़ गया और पास के एक गांव में, जहां उसका एक मित्र रहता था, उसके पास पहुंच गया।

मित्र ने सारा हाल सहानुभूति के साथ सुना और अपने यहां ठहराया। दूसरे दिन दोनों मित्रों ने आपस में वातचीत की।

मित्र ने कहा, "मैं तुम्हें चार भेड़ें खरीद देता हूं। उनको तुम पालो और देखो कि क्या नतीजा निकलता है। भगवान की कृपा हुई तो तुम्हारे दिन फिरते देर नहीं लगेगी। तुम चिंता मत करो।"

हालांकि मित्र ने सहानुभूति से वात की, लेकिन उसे ऐसा लगा कि चार भेड़ों के पालने से ऐसा क्या लाभ हो सकेगा! मित्र ने मुझे यह क्या काम वताया! सो उसने सोचा कि अपना दिनमान ही खराव है तो

मित्र भी बेचारा क्या करे ! सो उसने मित्र की सलाह मानकर चार भेड़ें खरीद लीं।

कुछ दिनों में उसकी एक भेड़ मर गई, तो मित्र ने उसके बदले एक भेड़ और खरीद दी। कुछ दिन और बीतने पर एक भेड़ फिर मर गई। मित्र ने फिर एक भेड़ खरीद दी। और वह संख्या चार-की-चार ही रही। ऐसा कुछ समय तक चलता रहा। फिर एक भेड़ ब्याई और उनकी संख्या पाँच हो गई। थोड़े ही दिनों बाद एक भेड़ और ब्याई और अब भेड़ों की संख्या छह हो गई। तब मित्र ने सोचा कि इसके बुरे दिन बीत चले हैं, इसलिए अब इसे खड़े होने में अधिक समय नहीं लगेगा। यह सोचकर उस मित्र ने चार भेड़ें और खरीद दीं। कुछ दिनों में दो भेड़ें और ब्याईं तो उनकी संख्या बारह हो गई।

मित्र को पक्का विश्वास हो गया कि अब यह जो भी काम करेगा, उसमें सफलता मिलेगी। अतः उसे एक छोटी-सी गल्ले की दुकान करा दी। धीरे-धीरे वह दुकान चल निकली और गल्ले के साथ-साथ उसने कपड़े, किराने आदि का काम भी शुरू कर दिया।

धीरे-धीरे उसका व्यापार बहुत बढ़ गया। वह एक प्रतिष्ठित व्यापारी माना जाने लगा। एक दिन उसने अपने मित्र से पूछा, क्यों भाई, जिस दिन विपत्ति का मारा मैं तुम्हारे पास आया था, उस दिन तुमने मुझे यह छोटा-सा व्यापार करने की जो सलाह दी, उसका क्या रहस्य है ?"

मित्र ने कहा, "उस दिन अगर मैं तुम्हें कोई बड़ा व्यापार कराता, तो तुम भी डूबते और मैं भी डूबता। मैं धीरे से देखता रहा कि तुम्हारे दिन कब फिरते हैं और उसी प्रतीक्षा में बैठा रहा। जिस दिन तुम्हारी भेड़ों की संख्या चार से पांच हुई, उसी दिन मैंने अनुमान लगा लिया कि अब तुम्हारे दिन अच्छे आ गये हैं और तुम देख ही रहे हो कि उस धीरज का नतीजा कितना मधुर आया है। अब तुम चाहो तो यहां रहकर अपना व्यापार चालू रख सकते हो और चाहो तो अपने घर वापस लौट कर वहां व्यापार शुरू कर सकते हो। तुम्हारे ग्रह अब बदल चुके हैं। जहाँ भी रहोगे, सुखी रहोगे। सफलता तुम्हारे पीछे-पीछे फिरा करेगी।"

वह आदमी वापस अपने गांव आ गया और वहां पर बड़ी-सी दुकान

करके अच्छी तरह व्यापार करने लगा।

उसकी बहिन को जब अपने भाई की दशा सुधरने का पता लगा, तो उसने आदरपूर्वक निमन्त्रण भेजा और कहलाया कि तुम्हारे भानजे का विवाह है, विवाह में अवश्य आना।

वह अपनी बहिन के लड़के के विवाह में गया, लेकिन जाती दफे जो दो रोटियां उसने पीपल के पेड़ के नीचे गाड़ दी थीं, उन्हें भी अपने साथ लेता गया। 'भात' के वक्त जब बहिन ने, 'मेरो घण देवो बीर' का गीत गाया तो काफी कीमती जेवरों, नकदी और कपड़ों से थाल को भर दिया, लेकिन उनके ऊपर वे दो रोटियां भी रख दीं।

सम्बन्धियों और दूसरे लोगों को आश्चर्य हुआ कि इतना धन देने के बाद इन गली-सड़ी रोटियों को देने का क्या रहस्य है! उन्होंने उससे इसका कारण पूछा।

उसने कहा, "इसका भेद मेरी बहिन जानती है। दूसरे को बताने की जरूरत नहीं, वह स्वयं समझ लेगी।"

तुलसी या मन की विथा, मन ही राखो गोइ।

बहिन को वह पुरानी घटना याद आते देर नहीं लगी। वह बहुत ही शर्मिन्दा हुई, लेकिन बीती हुई बात वापस तो आ नहीं सकती थी। उसके मन में गहरा पश्चात्ताप हुआ, लेकिन 'समय चूकि पुनि का पछिताने।' वह सुबक-सुबककर रोने लगी, किसी को कुछ भी बताया नहीं। बहिन-भाई के अलावा और लोगों के लिए वह पहेली पहेली ही बनी रही।

बहिन के यहां भात भरकर आने के बाद जब उसके ससुराल वालों को पता लगा कि हमारे जंवाई के पास बहुत पैसा हो गया है, तो उन्होंने भी अपने यहां होनेवाले विवाह का उसे आग्रहपूर्वक निमन्त्रण भेजा।

निमन्त्रण के उत्तर में उसने दो हीरे की अंगूठियां भेज दीं। ससुराल वालों की समझ में नहीं आया कि इसका क्या कारण है! तब उन्होंने अपने एक लड़के को निमन्त्रण देने के लिए भेजा। उस लड़के को भी जंवाईजी ने एक बड़ा-सा 'कंठा' देकर विदा कर दिया।

लड़के के वापस पहुंचने पर घरवालों ने सोचा कि यह माजरा क्या है! तब ससुर महोदय स्वयं गये और उन्होंने जंवाईजी से पूछा, "हमने तो

निमन्त्रण आपको भेजा था, लेकिन आपने स्वयं न आकर हमें ये गहने भेज दिये, इसका कारण क्या है ? ''

जंवाई ने उत्तर दिया, "आपने निमन्त्रण मुझे नहीं, वल्कि मेरे पास जो धन हो गया है, उसे भेजा है। आपका सम्मान या स्नेह मेरे प्रति नहीं है, वल्कि उस हैसियत के प्रति है, जो कि मैं प्राप्त कर सका हूं। अगर मेरे प्रति कुछ भी स्नेह होता, तो जिस दिन विपत्ति में पड़कर मैं आपके द्वार पर गया था, उस दिन आप मुझे यों न दुत्कार देते ! इसलिए आपको सचमुच जो चीज प्यारी है, याने मेरी सम्पत्ति, वह मैंने आपको भेज दी है, धाप-धाप इसे भोजन कराइये और इसकी आवभगत कीजिये।"

ससुर वेचारा पानी-पानी हो गया और वह वापस अपने घर चला आया।

इसीलिए अपने यहां कहा है, 'वखत निकल ज्या, वात रै ज्या।' 'वखत का वाया मोती नीपजै।'

५५ 'जीत्या-जीत्या जी टोडरमल बीर'[1]

सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण की बात है। दिल्ली के निकट किसी नगर में एक सेठ रहता था। वह जितना धनी था, उतना ही उदार भी। उसकी ओर से अनेक स्थानों पर मन्दिर, धर्मशालाएं, औषधालय और पाठशालाएं तथा अन्य सार्वजनिक संस्थाएं बनाई गई थीं और संचालित थीं। ये संस्थाएं लोगों को लाभ पहुंचाती हुई सेठ का यशोगान किया करतीं। आतिथ्य-प्रिय वह इतना था कि कोई भी यात्री उसके नगर से गुजरता हुआ वहां विश्राम करना चाहता, तो उसकी हवेली सदा-सर्वदा सबके लिए समान रूप से खुली मिलती। आये हुए मेहमान की खातिरदारी सेठ और उसकी पत्नी दोनों ही बहुत आदर और स्नेह के साथ करते। 'अतिथिदेवो भव' का सिद्धान्त उन लोगों ने अपने जीवन में पूरा-पूरा उतार रखा था।

धन घिरती-फिरती छाया है। लक्ष्मी किसीके घर पीढ़ा डालकर, जम कर आजतक बैठी नहीं। सात तालों के भीतर बन्द करने पर भी वह तो, अपनी इच्छा होती है तब, चली ही जाती है। आने और जाने में सुपात्र-कुपात्र का विचार भी वह नहीं करती। हां, सरस्वती के वरद पुत्रों और उपासकों के यहां जाना तो वह क्वचित् ही पसन्द करती है। लक्ष्मी और सरस्वती का आमतौर पर ३-६ का संबंध माना जाता है। कहते हैं, लक्ष्मी के इतने चंचल और अधीर स्वभाव तथा सरस्वती के साथ द्वेष रखने के कारण ही विष्णु भगवान दुःखी होकर क्षीरसागर में जाकर आंखें मूंदकर शेष-शय्या पर सोये रहते हैं। लक्ष्मी उन्हें मनाने के लिए उनके पांव दबाया

१. 'मेरे टोडरमल भाई जीत गये!'

करती है, लेकिन विष्णु भगवान राजी नहीं होते, क्योंकि लक्ष्मी अपना स्वभाव छोड़ने को तैयार नहीं। हवा की तरह उन्मुक्त रहकर विचरण करने वाली लक्ष्मी, आज यहां तो कल वहां, इस तरह घूमती ही रहती है।

जो हो, होते-करते एक दिन ऐसा आया कि उस सेठ के घर से भी लक्ष्मी अकारण ही रूठकर चली गई। सेठ को इतना सदमा पहुंचा कि वह हृद्रोग से पीड़ित होकर कुछ ही दिनों की बीमारी के बाद भगवान के घर का मेहमान हो गया। रह गई उसकी पत्नी, एक कुंआरा लड़का और सेठ की सुखद स्मृति तथा उसका अमिट यश।

जिन दिनों सेठ पर लक्ष्मी की कृपा थी, उन दिनों उसके लड़के की सगाई पड़ौस के ही एक कस्बे में अपनी बराबरी की हैसियतवाले दूसरे सेठ की लड़की के साथ हो चुकी थी। अब, जबकि वर-पक्ष का घर धनहीन हो गया तथा घर के मालिक का स्वर्गवास हो गया, तो कन्या के पिता के मन में यह पाप समाया कि किसी तरह इस सम्बन्ध को तोड़कर लड़की दूसरे घर 'परणानी'[1] चाहिए। लेकिन उसके सामने समस्या यह आई कि बिना किसी खास कारण के या बिना कोई झूठा-सच्चा बहाना बनाये, सगाई छोड़ी जाय, तो कैसे छोड़ी जाय? उन दिनों किसी कुटुम्ब का धनहीन होना तो सगाई छोड़ने के लिए यथेष्ट कारण नहीं माना जाता था।

अतः उस सेठ ने सगाई छोड़ने के लिए कोई-न कोई बहाना ढूंढ़ना, कोई-न-कोई युक्ति विचारना शुरू किया। "जहां चाह, वहां राह" के अनुसार विचारते-विचारते उसे एक युक्ति सूझी और उसके अनुसार सेठ ने एक 'बीदड़ी'[2] बाजरे के दानों से भरकर 'कासिद'[3] के साथ अपनी समधिन के यहां भेजी और साथ में एक पत्र भी।

कासिद ने बीदड़ी और पत्र ले जाकर हमारी पूर्व-परिचित सेठानी के हाथ में दिये। उसने जब पत्र खोलकर पढ़ा तो वह 'सूनी-सी' हो गई। उसे ऐसा जान पड़ा मानो जमीन उसके पैरों के नीचे से खिसक रही है।

उस पत्र में लिखा था, "हमने 'सावा' निकाल लिया है। बसंत-पंचमी

१. विवाह करना।
२. हरकारे के हाथ भेजा जानेवाला छोटा पार्सल। ३. हरकारा।

का सावा वहुत श्रेष्ठ वनता है । आप भी अपने पंडित से पूछ लें और वह सहमत हो तो आप लोग उस दिन वारात लेकर आ जायं, लेकिन इस बीदड़ी में वाजरे के जितने दाने हैं उतने आदमी वारात में आने चाहिए, अगर इससे कम हुए तो अपने दोनों घरों की ही शोभा नहीं रहेगी। विवाह के सारे काम दोनों पक्षों की प्रतिष्ठा के अनुरूप होने चाहिए।''

पत्र पढ़कर सेठानी ने सोच लिया कि यह भी दिनमान की वात है। "दिन करै सो वैरी कोनी करै।''[१] "पतला दिन आवे जद तन का कपड़ा भी बैरी होज्या।''[२] चूंकि मालिक का शरीर रहा नहीं तथा अपने पास पैसा भी रहा नहीं, इसलिए समधी वहाना वनाकर सगाई छोड़ना चाहता है। खैर, कोई वात नहीं, जो होना होगा सो हो जायगा।

उसने कासिद से कह दिया कि कल सुवह तुम्हें उत्तर लिखकर दे दूंगी, आज तुम यहीं विश्राम कर लो।

संयोग की वात कि उसी दिन राजा टोडरमल उस नगर से गुजर रहे थे। वर्षा अधिक होने के कारण उन्हें रात-भर वहीं ठहरना पड़ा। चूंकि यह सेठानी धनहीन होने पर भी अतिथि-सत्कार की परम्परा पहले की भांति ही निभाये जा रही थी, अत: टोडरमल भी उसीके अतिथि हुए। यद्यपि सेठानी को इस वात का पता नहीं था कि यह टोडरमल हैं; फिर भी उसने अपने सहज स्वभाव के कारण जैसी खातिरदारी की, उससे वह वहुत प्रभावित हुए। रात-भर उन्होंने वहीं विश्राम किया।

रात वीती, प्रातःकाल हुआ, चिड़ियां चहकीं और प्रकृति ने गाया—'उठ जाग, मुसाफिर, भोर भई, अव रैन कहां जो सोवत है?' टोडरमल अपने विस्तर से उठे, हाथ-मुंह धोकर अगली मंजिल पर रवाना होने से पहले सेठानी से विदा मांगने और आभार जताने हवेली के भीतर गये।

सेठानी अपनी हथेली पर गाल रखे, मुंह लटकाये, अधमुंदी आंखों के साथ पीढ़े पर उदास वैठी थी। टोडरमल को भीतर आते देखा तो हड़वड़ा-कर उठी। दोनों ओर से नमस्कार-प्रणाम हुआ। राजा टोडरमल ने उदासी का कारण पूछा। पहले तो सेठानी ने टामलटोल की, लेकिन जव टोडरमल

१. "बुरे दिन शत्रु से भी बलवान होते हैं।"
२. "जब बुरे दिन आते हैं तब तन के कपड़े भी दुश्मन-जैसा काम करते हैं।"

ने अधिक आग्रह किया तो उसकी आंखें भर आईं। दुःखी आदमी को जब किसीसे आंतरिक सहानुभूति मिलती है तो अनचाहे ही उसकी आंखें बरस पड़ती हैं। ऐसा ही हुआ। अश्रुपूरित आंखों से सेठानी ने सारी कथा कह दी।

टोडरमल ने उसे सान्त्वना दी, हिम्मत रखने को कहा और बोले, "मैं तुम्हारा धर्म का भाई हूं। तुम मेरी बहिन हो और लड़का मेरा भानजा। तुम्हें किसी भी बात की चिंता करने की जरूरत नहीं है। मैं भात लेकर आऊंगा। तुम निश्चिंत रहो।'

सेठानी ने कहा, "एक रात 'वासा'[1] देने के बदले मैं आपको इतना बड़ा कष्ट कैसे दे सकती हूं ! मैंने अपना सारा दुखड़ा आपके सामने इसलिए रो दिया था कि मेरे स्वयं के मन में आपके प्रति सगे भाई-जैसा ही स्नेह उमड़ पड़ा था, और इसलिए मेरा जी भर आया था। अब मेरे मन में न कोई दुःख रहा है, न अपनी स्थिति के प्रति ग्लानि ही। आप कष्ट न करें, मैं अपनी लाचारी की बात समधी को लिख दूंगी और अपनी हैसियत वाले किसी दूसरे घर की सुशील कन्या के साथ सम्बन्ध करके बहू को अपने घर लिवा लाऊंगी। लेकिन मैं आपसे इतना-सा जरूर चाहती हूं कि आप मुझे अपना नाम-पता-ठिकाना बता दें, ताकि मैं राखी-पूनम के दिन आपको राखी भेज दिया करूं। इतना काफी होगा।"

टोडरमल ने कहा, "कष्ट की तुमने भली कही ! तुम बेफिक्र रहो। ब्याह आया और मैं आया। तुम तो एक काम करो कि जितनी बड़ी बीदड़ी तुम्हारे पास आई है, उतनी ही बड़ी बीदड़ी राई के दानों से भरकर समधी के यहां भेज दो और यह लिख दो कि 'बारात आपके लिखे-अनुसार ही आयेगी। आप निश्चिंत रहें। मेरी प्रतिष्ठा की तो क्या बात पड़ी है, लेकिन आपकी प्रतिष्ठा और शोभा बनी रहे, इसका मैं पूरा खयाल रखूंगी। आप इस बीदड़ी में राई के जितने दाने हैं, उतने आदमी खातिर-तवज्जह के लिए अवश्य तैयार-तैनात रखें, क्योंकि बारात में बहुत बड़े-बड़े रईस-रजवाड़े, सेठ-साहूकार और हाकिम-हुक्काम आदि आनेवाले हैं। इसलिए ऐसा न हो कि खातिरदारी में किसी तरह की कमी या कसर रह जाय। अगर ऐसा

१. विश्राम (ठहरने) की सुविधा।

हुआ तो हम दोनों को ही लोगों के सामने नीचा देखना पड़ेगा।"

सेठानी ने ऐसा ही किया।

टोडरमल की विदाई के समय सेठानी ने उनकी यात्रा की मंगल-कामना करते हुए उन्हें अपने हाथ से गुड़ खिलाया, माथे पर तिलक लगाया और वलैयां लीं। दोनों ओर से आंखें सजल थीं।

सेठानी ने उसी दिन समधी के यहां से आये हुए कासिद को अपना पत्र और राई के दानों की वीदड़ी देकर फिरती भेज दिया।

दूसरे ही दिन अपने पुरोहित और पुराने मुनीम को बुलाकर बोली कि लड़के का विवाह वसंत-पंचमी का तय हुआ है, आप लोग धन की ओर से निश्चित होकर इस घर के पुराने रुतवे और प्रतिष्ठा के अनुसार विवाह की तैयारी आरम्भ कर दें। पीले चावल लेकर कस्वे के हर घर में घूम जायं तथा सारे लोगों को 'मेल की जीमणवार'[1] तथा वारात में शरीक होने का निमन्त्रण दे आवें।

मुनीम और पुरोहित ने उत्साहपूर्वक सारी तैयारी आरम्भ कर दी। दरवाजे पर नगाड़े और शहनाई वजने लगे और जीमणवार होने लगी। घर में हलवाइयों, दर्जियों, सुनारों आदि की भीड़ लग गई और दूसरे आने-जाने-वाले लोगों का भी तांता लग गया।

उधर जव कन्या-पक्ष वालों के यहां पत्र पहुंचा, तो उन्होंने उसे पढ़कर यही सोचा कि धनहीन हो जाने और पति का स्वर्गवास हो जाने के कारण समधिन वेचारी विक्षिप्त हो गई है। उसका दोष भी क्या है! दुःख के समय ऐसा होना स्वाभाविक ही है। इस तरह की झूठी और व्यर्थ की सहानुभूति प्रकट करके उन्होंने पत्र को फाड़ डाला और राई के दाने इधर-उधर विखेर दिये।

लगन के एक दिन पहले हाथी, घोड़े, ऊंट, पैदल सेना और वाजा-गाजा लेकर टोडरमल पहुंचे लड़के की मां के घर, और अपना परिचय दिया। सेठानी तो राजा टोडरमल का नाम सुनकर विह्वल हो गई, गद्-गद हो गई। उसने अपने भाग्य को सराहा। उसे ऐसा लगा कि उसके

१. विवाह के अवसर पर होनेवाला भ्रातृ-भोज।

पुराने सुख के दिन फिर लौट आये हैं।

राजा टोडरमल के ठहरने और भोजन आदि की व्यवस्था की गई। शाम को 'भात का नेग'[1] सम्पन्न हुआ। दूसरे दिन सवेरे ही राजा टोडरमल, इस शहर से जितने बाराती साथ में जानेवाले थे, उनको लेकर कन्या-पक्ष वालों के यहां पहुंचे।

शहर के बाहर ही बारात को रोककर लड़की के पिता के पास खबर भेजी गयी। टोडरमल का नाम और आई हुई बारात के ठाठ-बाट का समाचार सुनकर कन्या का पिता तो सन्न रह गया। उसे ऐसा लगा कि आकाश से उसके हाथ छूट गये हैं। आंखों के आगे अँधेरा छा गया, काटो तो खून नहीं। वह तो इस डर से कि पता नहीं, टोडरमल क्या दण्ड दें, पीपल के पत्ते की तरह थर-थर कांपने लगा, लेकिन आखिर हिम्मत बटोरकर अपने भाई-बन्धुओं को इकट्ठा किया, उनके सामने सारे समाचार कहे और उन्हें साथ लेकर बेहाल दौड़ा-दौड़ा टोडरमल के पास पहुंचा। अपने अपराधों के लिए बहुत-बहुत क्षमा-याचना की और बोला, "पलक-पांवड़े बिछे हैं! आइये और विवाह की रस्म पूरी करके मुझे कृतार्थ कीजिये! आपके योग्य खातिरदारी करना तो मेरे बलबूते की बात नहीं है, फिर भी जैसी बन पड़ेगी, उसमें कोई कसर नहीं रखूंगा।"

इस पर टोडरमल ने कहा, "क्षमा करनेवाला मैं कौन! आपने मेरा तो कोई कुसूर किया नहीं है! अपराधी हैं तो आप वर की मां के हैं, इसलिए क्षमा करने की अधिकारिणी तो वह हैं। फिर भी उनका भाई होने के कारण मैं उनका स्वभाव जानता हूं। वह बहुत उदार हैं, इसलिए जब आपके मन में अपनी करनी के प्रति ग्लानि हो गई है तो मेरी बहिन के मन में किसी प्रकार का मैल नहीं रह जायगा। शांत चित से अपने घर जाइये और विवाह की तैयारी करिये।"

टोडरमल ने सेठ को सांत्वना तो दी, लेकिन साथ ही भविष्य के लिए सावधानी भी दिलाई।

१. माहेरा—वर या कन्या के विवाह के अवसर पर उसके ननिहाल वालों की ओर से गहने, कपड़े आदि दिये जाने की रस्म।

बारात जनवासे पहुंची। रात को फेरे हुए। दूसरे और तीसरे दिन सारे नेगचार सम्पन्न होकर बारात वापस लौटी। मां ने अपने बेटे और चांद-सी सुलक्खिनी बहू को 'राई-नोन' करके सुन्दर रथ से नीचे उतारा, 'वारी-फेरी' और 'निछरावल' की, उनका माथा सूंघा और बलैयां लीं। टोडरमल की आरती उतारी। बेटे-बहू को हवेली के भीतर ले जाकर अपने कुल-देवता के सामने धोक दिलाई तथा विवाह के बाद के सारे नेग-चार सम्पन्न किये। सेठानी ने उस समय जो गीत गाया, उसकी पहली कड़ी यह थी— "जीत्या-जीत्या जी म्हारा टोडरमल वीर !"

उस समय से आज तक यह गीत राजस्थान के प्रत्येक भाग में एकाधिक रूप में, विवाह के बाद वर जब वधू को लेकर लौटता है तब, गाये जाने की प्रथा चालू है।

यह तो हुई कहानी !

अब पाठक राजा टोडरमल के बारे में थोड़ी-सी ऐतिहासिक जानकारी भी कर लें, साथ ही टोडरमल नाम के दूसरे कुछ और प्रसिद्ध व्यक्तियों को भी जान लें।

राजा टोडरमल लाहौर के रहनेवाले खन्नावंशी खत्री थे। ये अकबर के राज्य में राजस्व-मन्त्री के पद पर काम करते थे और थे अकबर के नवरत्नों में से एक। बादशाह की ओर से इन्हें 'राजा' का खिताब मिला हुआ था। ये 'चारहजारी' मनसबदार थे।

'आईने-अकबरी' के अनुसार 'चारहजारी' मनसबदार उसे कहा जाता था, जिसके पास विभिन्न जाति के अस्सी हाथी, दो सौ सत्तर घोड़े, पैंसठ ऊंट, सत्रह खच्चर और एक सौ तीस बोझा ढोनेवाली गाड़ियां होती थीं। इस सारे 'लवाज़मे' का खर्चा मनसबदार खुद उठाता था, बदले में राज्य से उसे बाईस हजार रुपये महीना मिला करते थे।

टोडरमल राज-काज के संचालन और हिसाब-किताब के मामले में इतने दक्ष थे कि अपने राजस्व-मंत्रित्व काल में उन्होंने भूमि-पैमाइश की जो विधि चलाई थी, वह आज भी प्रचलित है।

लाहौर में आज भी एक बड़ी-सी हवेली खड़ी है, जिसमें टोडरमल के पूर्वज रहा करते थे। यह हवेली भारत-विभाजन के पहले तक 'टोडर-

मल का किला' नाम से प्रसिद्ध थी।

बिना मात्रा की जो मुड़िया लिपि लिखी जाती है, उसके आविष्कारक भी राजा टोडरमल ही थे। इसकी साक्षी के रूप में नीचे लिखा दोहा प्रचलित है :

देवनागरी अति कठिन, स्वर व्यंजन व्यौहार।
तातें जग के सुगम हित, मुड़िया कियौ प्रचार॥

मुड़िया लिपि को 'महाजनी' लिपि भी कहा जाता है। शेखावाटी की तरफ इस लिपि को 'वाणियां आंक' तथा देवनागरी को 'बामणी आंक' कहा करते हैं।

राजस्थान में सारी ही जगह व्यापारी वर्ग की सारी वहियां, हुण्डी-पुरजे, दस्तावेज और लिखा-पढ़ी आदि वाणियां आंकों में ही हुआ करती थी। अक्षरों पर मात्रा न होने पर भी किसी दस्तावेज के अर्थ में आजतक कभी कोई फर्क नहीं पड़ा है। लेकिन अब तो मुड़िया लिपि का प्रचलन केवल बड़ी उमर के लोगों तक ही सीमित हो गया है। लगता है, कुछ वर्षों में इसका प्रचलन उठ जायगा, क्योंकि आज का विद्यार्थी न तो यह लिपि लिखता ही है और न भली प्रकार पढ़ ही सकता है।

कहा जाता है कि राजा टोडरमल अपने अन्तिम दिनों में जब अपने पद से निवृत्त होकर वृन्दावन-वास करने चले गये थे, तो एक बार अकबर को एक विशेष काम के लिए उनकी सलाह की जरूरत पड़ी थी और आदमी भेजकर उन्हें बुलवाया था।

टोडरमल नाम के एक व्यक्ति काशी के पास ही रहनेवाले थे। उन्हें गोस्वामी तुलसीदासजी बहुत मानते थे। वे एक साधारण जमींदार थे।

कहा जाता है कि एक बार गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपनी जगत्-प्रसिद्ध रामचरितमानस की हस्तलिखित प्रति चोरी के भय से इनके घर ही रखी थी। यह भी कहा जाता है कि इनके घर में भाइयों में किसी बात को लेकर आपसी मतभेद हो गया था, तो गोस्वामी तुलसीदास ने ही पंचायती की थी। वह पंचायतनामा तुलसीदास का स्वयं का लिखा हुआ है और टोडरमल के वंशजों के पास आज भी सुरक्षित है। विक्रम परिषद्, वाराणसी द्वारा प्रकाशित तुलसी-ग्रंथावली के दूसरे भाग में उस पंचायत-

नामे की फोटोस्टेट प्रति भी है। जो लोग तुलसीदासजी के अक्षर देखना चाहें, वे विक्रम-परिषद् की उक्त तुलसी-ग्रंथावली की प्रति मंगवाकर देख सकते हैं।

कहते हैं कि इन टोडरमलजी के वंशज आज भी गोस्वामी तुलसीदासजी की पुण्य-तिथि के दिन ब्राह्मणों को 'सीधा' देते हैं।

इनकी मृत्यु पर गोस्वामी तुलसीदासजी ने नीचे लिखा दोहा कहा था, जो आज भी वहुत लोगों की जवान पर है :

चार गांव का ठाकुरों, मन को महा महीप।
तुलसी या संसार से, अथयो टोडर दीप॥

इसके वाद शेखावाटी-स्थित भोमियोंवाले उदयपुर में भी एक टोडरमल नाम के प्रसिद्ध व्यक्ति हुए हैं। वह जाति के राजपूत थे और थे वहुत ही आतिथ्यप्रिय और उदार। अतिथि-सेवा के वारे में जिक्र आता है कि राणा जगतसिंह ने जव हरिदासजी नामक 'वारठ'[1] को उनके पास भेजा था, तव उनकी पालकी स्वयं टोडरमल ने उठायी थी। उनकी उदारता के वारे में नीचे लिखा दोहा प्रसिद्ध है :

दो उदयापुर ऊजला,[2] दो दातार अटल्ल[3]।
इक तो राणो जगतसी,[4] दूजो टोडरमल्ल॥

यह टोडरमल शाहजहां के दरवार में डेढ़हजारी मनसवदार थे और शाहजहां के वहुत विश्वासपात्र भी।

टोडरमल नाम के एक प्रसिद्ध व्यक्ति आज से दो सौ वर्ष पहले और भी हुए हैं। वे जयपुर के रहनेवाले दिगम्वर जैन थे तथा थे वाल-ब्रह्मचारी। उन्होंने जैन-धर्म सम्वन्धी अनेक प्रसिद्ध आध्यात्मिक ग्रन्थों की रचना की है।

एक वार उनकी मां ने भोजन में यह सोचकर नमक डालना वन्द कर दिया था कि नमक से प्यास अधिक लगती है, लेकिन टोडरमल को पता भी नहीं चला कि भोजन 'अलूना' है। जिस दिन उनका ग्रंथ पूरा हुआ और वे भोजन पर बैठे तो उन्हें लगा कि भोजन अलूना है, क्योंकि अब

१. वारहठ, चारण २. निर्मल ३. अटल ४. जगतसिंह।

वे साधनावस्था से अपनी स्वाभाविक अवस्था में आ गये थे। उन्होंने मां से कहा, "मां, मालूम होता है कि तुम आज नमक डालना भूल गई हो।" तब मां ने कहा, "मालूम होता है, आज तुम्हारा ग्रंथ पूरा हो गया है !" और दोनों ने एक-दूसरे की ओर श्रद्धा तथा स्नेह-भरी दृष्टि से देखा।

५६ घाघ

यों तो आजकल उपर्युक्त शब्द उस मनुष्य के लिए प्रयोग में आता है, जो बहुत चालाक और चंट हो। अपने मन की बात का तो किसीको पता न लगने दे, लेकिन दूसरे के मन की बात अपनी चतुराई और चालाकी से निकलवा सके। जो आदमी एक साथ ही चतुर, चालाक और गहरा हो, उसे 'घाघ' कहा जाता है, लेकिन यह कहानी उस शब्द से कोई मतलब नहीं रखती। यह तो शकुन द्वारा तथा पशु-पक्षियों की चाल-ढाल देखकर वर्षा होने-न-होने और अगले वर्ष में होने वाले दुकाल-सुकाल के बारे में भविष्यवाणी करनेवाले घाघ नाम के एक बहुत ही प्रसिद्ध ज्योतिषी की कहानी है, जो इस प्रकार है :

घाघ नाम के इन बड़े ज्योतिषी का जन्म राजस्थान में हुआ था, लेकिन वहां पर अपनी विद्वत्ता के अनुरूप सम्मान न मिलने के कारण वह धारा नगरी में राजा भोज के यहां चले गये थे। वहां जाने पर उनके भाग्य ने उनका साथ दिया और वे राजा द्वारा सम्मानित होकर 'राज-ज्योतिषी' का पद पा गये। दरबार के दूसरे स्थानीय ज्योतिषियों को इसब ात से ईर्ष्या हुई, क्योंकि घाघ परप्रान्तीय आदमी थे, लेकिन वे कर ही क्या सकते थे—"राजा माने सो राणी और भरै सै पाणी।"

एक बार धारानगरी में और उसके आसपास कहीं भी वर्षा नहीं हुई। अकाल के लक्षण दीखने लगे। राजा के मन में चिंता हुई। उसने अपने नगर के सारे ज्योतिषियों की एक सभा बुलाई और पूछा, "इस साल वर्षा का योग कैसा है ?"

घाघ को छोड़कर सारे ही ज्योतिषियों ने एकमत से कहा कि वर्षा का योग नहीं है। तीन वर्ष का भयंकर अकाल पड़नेवाला है। राजा घबराया और घाघ की ओर मुड़कर पूछा, "आपका क्या कहना है ?"

घाघ की गणना के अनुसार वर्षा का योग बनता था, लेकिन उन्होंने सोचा कि जब इतने सारे ज्योतिषी एक स्वर से अकाल की बात कहते हैं तो अपने को भी एक बार फिर से गणना कर लेनी चाहिए। इसके अलावा जंगल में जाकर पशु-पक्षियों आदि की चाल-ढाल भी देखनी चाहिए, क्योंकि कई पशु-पक्षी ऐसे हैं जिन्हें वर्षा होने का पूर्वाभास हो जाता है और उनकी चाल-ढाल में, बोली में, तदनुसार फर्क आ जाता है, जिसे देखकर जानकार लोग यह अनुमान लगा लेते हैं कि वर्षा होनेवाली है या नहीं। अत: घाघ ने राजा से कहा कि मैं आपको इसका उत्तर कल दूंगा।

सभा विसर्जित हुई और घाघ जंगल में चले गये। वहां उन्हें एक गधा मिला, जिसके कान बहुत ही नीचे लटके हुए थे। यह देखकर घाघ को लगा कि अपनी गणना ठीक प्रतीत होती है। वह और आगे बढ़े तो उन्होंने देखा कि चींटियों का दल-का-दल मुंह में अन्न के दाने लिये बिलों में भागा जा रहा है और चिड़ियां धूल में स्नान कर रही हैं। उन्होंने यह भी देखा कि चीलों का एक समूह वृत्ताकार में आकाश की ओर ऊंचा उठता ही जा रहा है। यह देखकर घाघ को अपनी गणना पर जो विश्वास था, वह और भी दृढ़ हो गया। लेकिन फिर भी दूसरे अनेक बड़े-बड़े ज्योतिषियों द्वारा एकमत से वर्षा न होने की भविष्यवाणी के कारण थोड़ा-बहुत संशय उनके मन में बना ही रहा। इसलिए वह थोड़ा और आगे बढ़े।

आगे जाने पर घाघ को एक नाला मिला, जिसके इस पार एक मेहतर लड़की अपने पशुओं को चरा रही थी और दूसरी पार लड़की का बाप अपने सूअरों को चरा रहा था। लड़की ने जोरों से पुकारा, "बाबा, बाबा, जल्दी लौटकर आजा। आज रात को बहुत जोर से पानी आनेवाला है। उसके बाद सूअर नाला पार नहीं कर सकेंगे।"

बाबा ने पूछा, "तुम यह कैसे कहती हो ?"

लड़की ने उत्तर दिया, "बाबा, नाले में एक टिटहरी ने अंडे दे रखे हैं और वह घबराई हुई, बहुत जोरों से आवाज करती हुई, अपने अंडों को

उठाकर दूसरे सुरक्षित स्थान में रख रही है। इसका मतलब साफ है कि उसे इस बात का भान हो गया है कि वर्षा आनेवाली है।"

लड़की का नाम 'भड्डरी' था, कालांतर में लोग उसे कहीं 'भिड्डली' और कहीं 'भिंडरी' कहने लगे। भड्डरी का पिता अपनी बेटी के कहे अनुसार सूअरों को नाले के इस पार हांक लाया और राज-ज्योतिषी घाघ महाराज संशय-रहित होकर अपनी नगरी को चले आये।

नगर में आते ही उन्होंने तुरन्त सारे ज्योतिषियों की एक सभा बुलाई। राजा को भी बुलाया और कहा, "आप सारे लोग कान खोलकर सुन लें ! चिंता की कोई भी बात नहीं है। वर्षा होगी, आठ पहर के भीतर होगी और मूसलाधार होगी।"

राजा ने कहा, "न बादल, न बिजली, आठ पहर के भीतर वर्षा कहां से आ जायगी ?"

घाघ ने जवाब दिया, "महाभारत-काल में भी एक बार युधिष्ठिर के वचनों पर किसीको शंका हुई थी और प्रमाण मांगा था, तो युधिष्ठिर ने कहा था— 'युधिष्ठिरस्य वचनं प्रमाणम्।' उसी तरह घाघ भी आज इस भरे दरबार में कहता है कि वह जो कहता है, वही यथेष्ट है। घाघ जब कहता है कि वर्षा होगी, तो आप विश्वास कर लीजिये कि वह अवश्य होगी — 'विश्वासो फलदायकः'।"

सभा विसर्जित हुई। घाघ अपने शयन-कक्ष में गये और आकाश की ओर देखकर बोले, "भो धाराधर वारि मुञ्च जलद नायं विलम्बक्षणः।" और फिर दोनों हाथ जोड़कर बोले, "हे मेघराज, आज तू बादलों की गड़-गड़ाहट और बिजली की कड़कड़ाहट के साथ खूब जोरों से बरसकर इस तृषित धरती की प्यास बुझा दे। तपती हुई भूमि की तपन मिटा दे और जनता की आशा-वल्लरी को पल्लवित, पुष्पित और फलवती कर दे, लोगों का मन हर्षित और उल्लसित कर दे।"

यह कहकर वह लेट गये, किंतु उनकी आँखें आकाश की ओर ही लगी रहीं। रात का पहला पहर बीतते-बीतते उन्हें बादल का एक 'चूखा'[1] दीख

१. बदली का छोटा टुकड़ा।

पड़ा। थोड़ी ही देर में बादल कुछ घहराने लगे, तो घाघ ने हर्षित मन से कहा, "झर बादल, तू झर झर झर।" घाघ का इतना कहना था कि झिर-मिर-झिर-मिर वर्षा शुरू हो गई। झबक-झबक बिजली चमकने लगी। आकाश पूरा मेघाच्छन्न हो गया। बादलों की ओर देखकर घाघ ने फिर कहा, "बरस तू बरस बरस रणधार।" इतने में तो मोटी और घनी छींटों द्वारा इतने जोरों की वर्षा हुई कि आधी रात बीतते-बीतते जल-थल एका-कार हो गये, धरती तृप्त हो गई और उसकी देह सौंधी महक से भर उठी।

प्रातःकाल हुआ तो लोग हर्ष से नाचते हुए और घाघ महाराज की जय-जयकार के नारे लगाते हुए उनके मकान के नीचे बड़ी संख्या में जमा हो गये। जनता का साथ देते हुए मोर भी अपनी छतरी फैलाकर टिहुक-टिहुककर नाचने लगे। दादुर बोलने लगे। पपीहे भी अपनी मीठी बोली से 'पिउ-पिउ' करने लगे, लेकिन पपीहे की वह मीठी बोली विरहिनियों के कलेजे को तो तीखे बाण की तरह छेद रही थी। इसीको लेकर किसी कवि ने कहा है, "पापी रे पपीहरा, पिउ का नाम न ले; जे कोई विरहिन साँभरे पिउ कारन जिउ दे।"

राजा ने घाघ के सम्मान में एक सभा का आयोजन किया और उन्हें सर्वोच्च उपाधि से विभूषित किया। अब तो जो ज्योतिषी घाघ के प्रति ईर्ष्या और द्वेष रखते थे, वे भी उनकी विद्वत्ता का लोहा मान गये और उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखने लगे।

घाघ के मन में यह कल्पना उठी कि भड्डरी के साथ अपना विवाह हो जाय तो वर्षा के शकुन आदि देखने में अपने को अच्छी मदद मिलेगी। यह सोचकर वे उसके पिता के पास गये, अपने मन की बात कही और याचना की कि वह अपनी कन्या उन्हें पत्नी-रूप में दे दें।

भड्डरी के पिता ने एक बार तो इन्कार किया, लेकिन फिर घाघ महाराज की विद्वत्ता और उनका राज-सम्मान देखकर राज़ी हो गया। भड्डरी से पूछने पर उसने भी अपनी अनुमति दे दी, लेकिन पंचायत से अनुमति लेना आवश्यक था। अतः अपनी जाति के लोगों की एक सभा बुलाई। पंचों ने सारी बात सुनकर तथा घाघ से यह वचन लेकर कि उन्हें इस विवाह के कारण ब्राह्मण-समाज बहिष्कृत करेगा या राजा उन्हें

दरबार से निकाल देगा, अथवा और कोई भी संकट उनके ऊपर आयेगा, तो वे उसे सहर्ष सहन करेंगे, किंतु भड्डरी का परित्याग कदापि नहीं करेंगे, उन्हें भड्डरी से विवाह करने की इजाज़त दे दी।

घाघ ने उन्हें समझाते हुए कहा, "यह विवाह अनुलोम होने के कारण शास्त्र-सम्मत है। शास्त्र में कहा है, 'स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि'। इसलिए भय का कोई कारण नहीं है, फिर भी आप लोग चाहते हैं तो मैं क्षिप्रा नदी की साक्षी से आपके कहे हुए वचन स्वीकार करता हूं।"

हवन तथा वेद-मंत्रों के बीच घाघ-भड्डरी प्रणय-सूत्र में बंध गये।

घाघ और भड्डरी ने समय-समय पर ऋतु-सम्बन्धी जो दोहे और सूक्तियां कही-सुनी हैं, उनकी संख्या बहुत बड़ी है; लेकिन नमूने के रूप में थोड़ी-सी नीचे दी जाती हैं :

(१) लम्वा झौर[1] चले पुरवाई। तब जानो वरखा रुत आई।

(२) उत्तर चमके बीजुरी, पूरब वहतो वाउ[2]।
घाघ कहे सुन भड्डरी, बरधा[3] भीतर लाउ।।

(३) खन[4] पुरवैया खन पछियांव[5]। खन खन वहै बवूरा[6] वाव।।
जौ वादर वादर मां जाय। घाघ कहै जल कहां समाय।।

(४) जेठ मास जो तपै निरासा। तो जानो वरखा की आसा।।

(५) दिन का वद्दर रात निवद्दर, बहे पुरवैया झव्वर-झव्वर[7]।।
घाघ कहैं कछु होनी होइ, कुवां के पानी धोवी धोइ।।

(६) सावन सुक्ला सप्तमी, गगन स्वच्छ जो होय।
कहे घाघ सुन भड्डरी, पुहुमी[8] खेती खोय।।

(७) आषाढ़े पूनो दिवस, वादल घेरे चन्द।
तो भड्डर जोसी कहे, होवै परम अनंद।।

(८) उतरे जेठ जो बोलै दादर[9]। कहें भड्डरी वरसै वादर।।

(९) कलसे[10] पानी गरम हो, चिड़िया न्हावें धूर।
अंडा ले चींटी चढ़ै, तो वरखा भरपूर।।

(१०) तीतर-वरनी[11] वादरी, विधवा काजर-रेख।
वह वरसै, वह घर करै, कहें भड्डरी देख।।

१. आमों को झाड़ने वाली २. वायु, हवा ३. बैल ४. क्षण ५. पछिया हवा ६. ववंडर ७. रुक-रुककर ८. पृथ्वी ९. मेंढक १०. घड़े का ११. तीतर के पंखों-जैसे रंगवाली।

घाघ-भड्डरी के अलावा दूसरे लोगों द्वारा कही हुई तथा दुकाल-सुकाल सम्वन्धी अनेक कहावतें और दोहे प्रचलित हैं, जिनमें से वानगी के रूप में कुछ नीचे दिये जाते हैं :

(१) अम्वर पीलो, मेह सीलो। अम्वर राच्यो मेह माच्यो ।।[१]

(२) नाला डाकण, वलद विकावण, मत चालै तू आदै सावण ।[२]

(३) दो सावण दो भादवा, दो काती दो माह।
ढांडा ढोरा वेचकर, नाज विसावण जा ।।[३]

(४) सावण में सूर्‌यौ चालै, भादूड़ै पुरवाई।
आसोज्या में पछवा चालै, गाडा भर-भर ल्याई ।।

(५) पून[४] फिर्‌यां मेह होसी, मत पूछो वामण जोसी ।

प्रसिद्ध ज्योतिषी घाघ के अलावा आगे चलकर एक दूसरा घाघ नाम का ही ज्योतिषी और भी हुआ है। उसे हुए करीव २५० वर्ष हुए हैं। इन घाघ महाशय की कविताएं 'घाघ-घाघिनी' के नाम से प्रचलित हैं और वे भी ऋतु-संवंधी ही हैं :

(१) सावन सुक्ला सप्तमी, छिपके ऊगै भान[५]।
कहै घाघ सुन घाघिनी, वरखा देवउठान[६] ।।

(२) दिन में गरमी रात में ओस। कहै घाघ वरखा सौ कोस ।।

(३) रोहिनी वरसै मृग तपै, कछु कछु अद्रा जाय।
कहै घाघ सुन घाघिनी, स्वान भात नहिं खाय ।।[७]

(४) गुरू सुक्र की वादली, रहे सनीचर छाय।
घाघ कहै सुन घाघिनी, विन वरसे नहिं जाय ।।

१. आकाश का रंग पीला हो तो वर्षा की संभावना नहीं और आकाश का रंग लाल हो तो जोरों से वर्षा होने की संभावना होती है। २. नालों को सुखाने वाली, वैलों को विकवानेवाली, तू आधे सावन मत चल! ३. यदि किसी वर्ष में सावन, भादों, कार्तिक और माघ के महीने दो वार पड़ते हों, तो ऐसा भयंकर अकाल पड़ेगा कि किसान को अपने पशु वेचकर वाजार से अनाज खरीदना पड़ेगा। ४. हवा
५. भानु, सूरज ६. देवोत्थान (कार्तिक शुक्ल ११) तक ७. यदि रोहिणी नक्षत्र वरस जाय, मृगशिरा तप जाय, कुछ-कुछ आर्द्रा भी वरस जाय, तो ऐसी पैदावार होगी कि कुत्ते तक भात खाते-खाते ऊव जायंगे।

(५) रामवांस जहं धंसे अटूटा। तहं पानी की आस अखूटा।।[1]

५७ शाहजहां और इत्र का एक छतरा

बादशाह शाहजहां को खुदा ने जितना नूर बख्शा था, उतनी ही नफीस तबियत भी। खर्चीला और दातार वह इतना था कि पैसे की जगह अशर्फी बरतता था। होते-होते यह बात बलख-बुखारा के बादशाह के कानों तक भी पहुंची। चूंकि वह खुद बहुत 'औला-दौला'[2] तबियत का आदमी था, अत: उसने सोचा कि शाहजहां के साथ गहरी दोस्ती कायम करनी चाहिए। लेकिन साथ में उसने यह भी सोचा कि ऐसा करने से पहले इस बात का पता लगा लेना जरूरी है कि क्या सचमुच ही दिल्ली का सम्राट इतना उदार है, जितना सुनने में आ रहा है, अथवा लोग यों ही बढ़ा-चढ़ाकर बखान कर रहे हैं। इसलिए सही वाकयात का पता लगाने के लिए उसने अपने एक चतुर और विश्वासी आदमी को दिल्ली भेजा।

वह आदमी दिल्ली में आकर एक सराय में ठहरा और एक अत्तार का वेश बनाकर भांति-भांति के बेशकीमती इत्रों की सुन्दर शीशियों से भरी एक निहायत खूबसूरत पेटी अपनी बगल में दबाकर दिल्ली के हाट-बाजारों में घूमने लगा।

जितना बढ़िया उसका इत्र था, उतना ही खूबसूरत वह खुद था और जितना खूबसूरत वह खुद था, उतने ही बढ़िया और सलीके से उसने कपड़े पहन रखे थे। जिस गली-मोहल्ले से वह गुजरता, वहां का पूरा वातावरण महक उठता। लोग ठिठककर खड़े-के-खड़े रह जाते, खुशबू से मुग्ध हो जाते और वाह-वाह कह उठते। अत्तार के चले जाने के बाद भी वहां पर वह

१. जहां रामबांस बिना अड़चन के धंस जाय तो समझो कि वहां के कुएं का पानी कभी कम नहीं होगा।

२. अत्यन्त उदार।

महक घंटों बनी रहती।

एक-एक करके वह दिल्ली के हर रईसजादे, अमीर-उमराव और शौकीन बाबू के घर का चक्कर लगा चुका। इत्र का जानकार और पारखी दिल्ली में ऐसा कोई नहीं बचा, जिसके यहां उसका चक्कर न लग चुका हो। जिस-जिसके यहां वह गया, उस-उसने इत्र की तहे-दिल से तारीफ की और कहा कि इतना बढ़िया और इतनी किस्मों का इत्र एक ही आदमी के पास अपनी उम्र में उन्होंने कभी नहीं देखा है।

दिल्ली के हाट-बाजारों और गली-मोहल्लों में चक्कर काटते उसे सात दिन हो गये। इस दर्मियान दिल्ली के बच्चे-बच्चे की जबान पर उसका नाम चढ़ चुका था, लेकिन उसका इत्र एक माशा भी नहीं बिका था। बहुत-से लोगों ने इत्र खरीदने की ख्वाहिश तो जाहिर की, लेकिन चूंकि उस अत्तार ने अपने माल की कीमत इतनी ऊंची, इतनी अनाप-शनाप रखी थी कि दाम सुनकर हर आदमी मन मारकर ही रह जाता। दरअसल उसे इत्र बेचना तो था नहीं और इसलिए उसने अपने इत्र की कीमत एक की जगह हजार रखी थी। उसे तो महज़ अपने दिल्ली आने की खबर, अपने इत्र की नफासत की खबर, बादशाह-सलामत तक पहुंचानी थी।

सात दिन बीतने पर एक दिन उसने दिल्ली के खास बाजार में खड़े होकर कहा, "हमने तो अपने मुल्क में इस शहर की और यहां के बादशाह की बड़ी शोहरत सुनी थी, लेकिन यहां आने पर जो तजुर्बा हुआ, उससे तो यही कहना पड़ता है कि दिल्ली तो वह शहर है, जिसके बारे में यह मिसाल बखूबी लागू होती है कि 'ऊंची दुकान फीका पकवान' और बादशाह-सलामत के लिए, अगर वह बुरा न मानें, तो मुझे 'नाम बड़ा दर्शन छोटा' की मिसाल याद आती है। यहां आकर हमने अपने माल की तारीफ तो बहुत सुनी, लेकिन एक माशा माल भी बेच न सके। हम तो कल अपने मुल्क को लौट रहे हैं और जो तजुर्बा साथ लिये जा रहे हैं, वह अपने मुल्क के बाशिन्दों को सुनायेंगे।"

जब वह अत्तार बोल रहा था, तो इसके इर्द-गिर्द काफी भीड़ जमा हो गई। भीड़ में एक आदमी ऐसा भी था, जो शाहजहां के मुंह लगा हुआ था। उसे यह बात चुभ गई और वह तुरन्त दौड़कर दरबार में पहुंचा।

दरबार खचाखच भरा हुआ था। उसने पहुंचते ही बादशाह-सलामत के सामने सारी हकीकत बयान की और बोला, "हुजूर, कोई परदेशी आदमी अपने शहर में आये और उसे इस तरह के अल्फाज़ बोलने का मौका मिले, यह दिल्ली शहर के बाशिन्दों के लिए तो शर्म की बात है ही, आपके लिए भी कम शर्म की बात नहीं है। मनपसन्द माल होते हुए भी, अगर वह सम्राट शाहजहां के यहां और उसकी राजधानी दिल्ली में महज़ इसलिए नहीं बिके कि उसकी कीमत ऊंची है, तो वह माल और फिर कहां बिकेगा ? अगर आपके दरबार में भी कला की और कलाकारों की कद्र नहीं होगी, तो फिर और कहीं तो होने से रही !"

शाहजहां ने भी इस बात को अपनी नगरी के लिए अपमानजनक माना कि कोई परदेसी आदमी यहां आकर उसके बारे में नीची और ओछी धारणा लेकर लौटे, अतः तुरन्त ही उस अत्तार को बुला भेजा।

अत्तार मुश्किल से किले के बाहर पहुंचा होगा कि उसके इत्र की खुशबू ने उसके आने की खबर सारे दरबार में दे दी। थोड़ी ही देर में वह सम्राट शाहजहां के सामने हाजिर हुआ और झुककर बंदगी की।

बादशाह उसकी खूबसूरती, उसके बढ़िया और सलीके से पहने हुए कपड़े, उसकी बातचीत का लहजा, उसकी तहजीब आदि देखकर बहुत ही खुश हुआ और उसे अपने पास ही बैठने का इशारा किया। अत्तार तख्त के पास ही फर्श पर बिछी हुई जाजम पर बैठ गया और इजाज़त पाकर तरह-तरह के इत्र बादशाह-सलामत की खिदमत में पेश करने लगा। इत्र की नफासत पर बादशाह खुश हो गया। इसी बीच मौका देखकर और आंख बचाकर उस अत्तार ने इत्र की वह शीशी, जिसे वह शाहजहां को दिखा रहा था, ज़रा-सी टेढ़ी कर दी। फलस्वरूप थोड़ा-सा इत्र जाजम पर ढुल गया। सम्राट शाहजहां का हाथ अनजाने ही सहज भाव से उस ढुले हुए इत्र पर चला गया और एक अंगुली से ज़रा-सा इत्र उठाकर अपने हाथ पर मल लिया। अत्तार ने बादशाह की ओर देखा तथा बादशाह ने अत्तार की ओर। अत्तार थोड़ा-सा 'मुलका'[1], तो बादशाह झेंप गया; लेकिन

१. मुस्कराया।

झेंप मिटाने के लिए तुरन्त ही बोला, "अत्तार, तुम्हारा माल वाकई निहायत बढ़िया है। तुम मेरी घुड़साल में जाकर सारा इत्र घोड़ों की लगाम पर छिड़क दो, ताकि सवारी के वक्त महक बनी रहे और दिल में मस्ती रहे। तुम्हारे पास सराय में जितना इत्र है, वह भी मुझे दे जाओ, ताकि वक्त-वक्त पर घोड़ों की लगाम पर छिड़कने के काम आये। अपने इत्र की कीमत के रुपये खजांची से लेलो तथा कीमत के अलावा एक हजार अशर्फियां बतौर इनाम के भी लेते जाओ, जो मैं तुम्हें इतना बढ़िया इत्र बनाने की कला की कद्रदानी के तौर पर दे रहा हूं। इसके अलावा मैं तुम्हें बहुत-बहुत मुबारकवाद भी देना चाहता हूं।"

अत्तार थोड़ा हँसा और बोला, "हुजूर, मेरी खता और बेअदबी माफ हो! लेकिन अब हुजूर चाहे घोड़ों की लगाम पर इत्र छिड़कायें चाहे हजारों मन इत्र का छिड़काव दिल्ली की सड़कों पर करायें, वह एक कतरा इत्र तो, जिसे बादशाह-सलामत ने जाजम पर से उठाया था, बलख-बुखारा पहुंच चुका है। एक हजार अशर्फी इनाम दें, चाहे एक लाख, वह कतरा अब वापस तो आने से रहा!"

'बूंद की गई हौद से नहीं आती।' राजस्थानी कहावत के अनुसार, 'वै पाणी मुलतान गया।'

बादशाह को सारा माजरा समझने में देर नहीं लगी। उसकी गरदन झुक गई, लेकिन अब क्या हो सकता था!

सच ही कहा है, जो घटना घटित हो गई, वह अघटित नहीं हो सकती। जो तीर छूट चुका, वह तरकस में वापस नहीं आ सकता। जो बात मुंह से निकल गई, वह 'कढ़ी होठां, चढ़ी कोठां' के अनुसार पराई हो चुकी, वापस नहीं आ सकती।

दरबार बरखास्त हो गया और वह अत्तार बना हुआ आदमी अपनी सराय में आकर अपने मुल्क को लौट गया। बादशाह ग्लानि से भरा हुआ मन लेकर अपने महलों में आया और करवटें बदलते रात काटी।

उस अत्तार ने बलख-बुखारा पहुंचकर अपने बादशाह के सामने सारी दास्तान कह दी।

यह बात ठीक ही है कि कोई भी आदमी बहुत खर्चीला होने से या

बड़ी-बड़ी रकमें दान में देने से या बड़ी-बड़ी बख्शीशें देने से ही उदार नहीं हो जाता। उदारता तो वह है, जो सहज-स्वाभाविक हो। सच्चे उदार आदमी को कभी मन में यह गुमान भी नहीं होता कि वह उदार है।

इसके लिए यों तो कई उदाहरण दिये जा सकते हैं, लेकिन यहां दो-तीन उदाहरण देना यथेष्ट होगा। एक तो कविवर रहीम के उस दोहे को, जिसमें अपनी बेगम के यह पूछने पर :

सीखी कहां नवाबजू ऐसी दैनी दैन।
ज्यों-ज्यों कर ऊंचौ उठै, त्यों-त्यों नीचे नैन।।

उनका उत्तर था :

देवनहारो देत है, देवत है दिन-रैन।
लोग भरम हम पै करैं, याते नीचे नैन।।

दूसरा युधिष्ठिर द्वारा किये हुए राजसूय यज्ञ का, जब उन्हें अभिमान हुआ था, तो नेवले ने अपनी आधी देह स्वर्ण की होने की कथा कही थी। उस कथा का नायक एक दरिद्री ब्राह्मण था, जिसने स्वयं भूखा रहकर अपना भोजन दूसरे को दे दिया था और जिस कथा को सुनकर युधिष्ठिर का अभिमान गलित हो गया था।

५८ ||||| शतरंज

ताश, चौपड़, शतरंज, गंजफा आदि खेलों में चौपड़ याने चौसर का खेल ही सबसे पुराना माना जाता है। चौसर पर जुआ अनादि काल से खेला जाता रहा है। इसका उल्लेख नल-दमयन्ती के आख्यान में भी आता है तथा धर्मराज युधिष्ठिर के आख्यान में भी। इतने बड़े महाभारत का कारण यह चौसर ही थी। कहीं-कहीं तो शिव-पार्वती के बीच भी चौसर खेले जाने का जिक्र मिलता है, लेकिन पुराना चाहे कितना ही हो, चौसर कोई खास बुद्धिमत्ता का खेल हो सो बात नहीं है। इसमें तो जिसके

हाथ अच्छा पासा आ जाय, वही जीत जाय। कहा भी गया है 'पासो पड़े सो दाव, राजा करै सो न्याव,' 'पासो पड़े, अनाड़ी जीते'। संतों ने संसार की नश्वरता जताते हुए भी चौसर शब्द का प्रयोग किया है, जैसे 'यो संसार चौसर की वाजी, सांज पड़्या उठ जासी,' आदि।

चौसर या चौपड़ में ८४ घर होते हैं जिन्हें 'ढाणे' भी कहते हैं। संतों का कहना है कि ८४ ढाणे ८४ लाख योनियों के द्योतक हैं। चौसर की स्यार पूरे ८४ ढाणे पार कर जाय तो वह निश्चिन्त हो जाती है, उसे मरने का डर नहीं रहता। लेकिन वीच में खिलाड़ी की गलती से या गलत-सही पासा पड़ने से अगर स्यार मर जाती है तो उसे फिर पहले ढाणे से यात्रा शुरू करनी पड़ती है। उसी तरह प्राणी भी ८४ लाख योनियां पार कर जाने के बाद मोक्ष का अधिकारी हो जाता है, लेकिन अगर वह ८४ लाख योनियों में यात्रा करता हुआ कहीं गलती कर जाता है, तो उसे वार-वार जन्म ग्रहण करना पड़ता है।

ताश में भी अच्छे पत्ते जिसके हाथ में आ जायं, वह जीत जाय, खास बुद्धिमत्ता की जरूरत नहीं पड़ती। शतरंज ही एक ऐसा खेल है, जिसमें बुद्धि लगाने की आवश्यकता पड़ती है। शतरंज का खेल केवल भारतवर्ष तक ही सीमित नहीं है, विदेशों में भी इसका चलन है, जबकि चौसर के वारे में यह वात नहीं है। शतरंज जव खेलने वैठते हैं, दोनों ओर वरावर की वाजी होती है, फिर जो जीत-हार होती है, वह खेलनेवाले की बुद्धि पर है। भाग्य की इसमें कोई वात नहीं है।

शतरंज के खेल के वारे में किसी-किसीका तो कहना है कि आठवीं सदी में भी इसका प्रचलन था, लेकिन आम तौर पर मान्यता यह है कि शतरंज का आविष्कार राजा वीरवल ने किया था। वीरवल जव शतरंज और उसके मोहरे लेकर वादशाह अकवर के पास गये, तो उसे देखकर और समझकर वादशाह वहुत ही खुश हुआ। शतरंज में वादशाह भी है, वजीर भी—इसके अलावा हाथी, घोड़े, ऊंट तथा प्यादों के रूप में पैदल सेना आदि, युद्ध के लिए आवश्यक सारी सामग्री है। वादशाह जवतक घिरकर आत्म-समर्पण नहीं कर देता, तवतक खेल चलता रहता है। वादशाह की चाल रुकी कि युद्ध में हार हुई, ऐसा मान लिया जाता है।

सम्राट अकबर ने राजा बीरबल को इस आश्चर्यकारक और बुद्धि की परीक्षा लेनेवाले खेल का आविष्कार करने के लिए बधाई दी और कहा, "मैं तुम्हें इसके लिए इनाम देना चाहता हूं। तुम जो चाहो सो मांग लो।"

राजा बीरबल ने कहा, "महाराज, आपसे तो लेता ही रहता हूं। मांगना क्या है?"

लेकिन जब अकबर ने आग्रह किया, तो बीरबल ने कहा, "आपकी कृपा ही है तो इस शतरंज में जितने घर हैं, याने चौंसठ, उनमें पहले घर में एक दाना गेहूं रखकर दुगुने-दुगुने रखते जायं, याने पहले में एक दूसरे में दो, तीसरे में चार—इस तरह चौसठ घरों में जितने गेहूं आवें, उतने मुझे दे दें।"

अकबर हँसा और बोला, "बीरबल, तुमने मांगकर भी क्या मांगा!" कुछ तो अपनी हैसियत का भी खयाल रखा होता और यह खयाल रखा होता कि तुम किससे मांग रहे हो।"

बीरबल ने कहा, "आपकी दुआ से इतना बहुत है।"

ये गेहूं कितने हुए, इसका हिसाब तो इस कहानी के पाठकों में से कोई लगाकर देखना चाहे तो देख ले, लेकिन कोई हिसाब न लगाना चाहे तो वह यह जान ले कि अगर अकबर का राज्य पूरा-का-पूरा बिक गया होता, तो भी बीरबल की यह मांग पूरी न होती।

इसीसे मिलती-जुलती एक कहानी और है। एक किराने के व्यापारी की लड़की की शादी थी। लड़की विदा होने लगी, तो लड़की के पिता ने अपनी लड़की से कहा, "सन्तान के नाम पर मेरे तो तुम्हीं एक हो, इसलिए तुम कहो सो तुम्हें दूं। इतना देना चाहता हूं कि जिससे तुम्हारे ससुराल-वाले सारे लोग राजी हो जायं तथा तुम भी राजी हो जाओ।"

लड़की थी चतुर। उसने नीचे लिखे दोहे के अनुसार अपनी मांग रखी:

चार सुपारी चोगणी, सोला खे फलाय।
बाबुल बेटी लाडली, मांगै हाथ पसार॥

लड़की की यह मांग भी वैसी ही थी जैसीकि बीरबल ने अकबर के सामने रखी थी—न वह पूरी होने वाली थी, न यह।

५९ आन राजपूत की

यह घटना १७वीं शताब्दी में उस समय की बात है, जिन दिनों दिल्ली के तख्त पर सम्राट शाहजहां आसीन थे। उन दिनों जोधपुर में महाराजा गजसिंहजी का राज्य था। बादशाह शाहजहां उनका पूरा सम्मान किया करता था और उन्हें प्रायः अपने पास आगरा में ही रखा करता था।

महाराजा साहब का एक बेगम से प्रेम था, जिसका नाम था अनारा बेगम।

एक बार महाराजा गजसिंहजी के छोटे पुत्र जसवंतसिंह पर वह बेगम बहुत खुश हो गई और वादा कर लिया कि जोधपुर का सिंहासन तुम्हें दिलवा दूंगी। बाद में मौका देखकर उसने राजा गजसिंहजी के सामने बात चलाई और उन्हें इस बात के लिए राज़ी कर लिया कि राज्य बड़े कुंवर को न देकर जसवन्तसिंह को दिया जाय। परिणाम यह हुआ कि बड़े कुंवर अमरसिंहजी, जो राज्य के असल अधिकारी थे, अपने अधिकार से वंचित रह गये।

अमरसिंहजी बड़े शूरवीर और स्वच्छन्द प्रकृति के राजकुमार थे। उन्होंने शाहजहां के पास आकर शिकायत की। शाहजहां ने सम्मानपूर्वक उन्हें अपने पास रख लिया। उनको चारहज़ारी मनसबदार का पद दे दिया तथा उनके लिए नागौर का पट्टा कर दिया।

नागौर और बीकानेर की सीमाएं जहां मिलती थीं, वहां पर अमरसिंह के राज्य में एक मतीरे की बेल उगी, किन्तु उसका फल, याने मतीरा, बीकानेर की सीमा में लगा।

बीकानेर में उन दिनों महाराजा कर्णसिंह का राज्य था, जिन्हें जंगलधरशाह की उपाधि प्राप्त थी। चूंकि मतीरा बीकानेर की सीमा में पड़ता था, अतः वहीं के लोगों ने उसे तोड़कर खा लिया।

अमरसिंहजी का कहना था कि बेल मेरी सीमा में है, अतः वह मतीरा भी मेरा है, जबकि बीकानेर के महाराजा ने उसे अपना बताया।

एक छोटी-सी घटना को लेकर मामला इतना बढ़ गया कि आपस

में छोटा-सा युद्ध हो गया और अमरसिंहजी के कई आदमी मारे गये।

अमरसिंहजी को जब इस घटना का पता लगा, तो उन्होंने महाराजा कर्णसिंह को लिख भेजा कि इसका बदला लिया जायगा।

महाराजा कर्णसिंह सलावतखां का मित्र था। सलावतखां सम्राट् शाहजहां का साला होता था। बीकानेर महाराज ने सारी घटना की खबर अपने मित्र के पास भेजी। सलावतखां को जब यह खबर लगी तो उसने मामले में दखलंदाज़ी की और यह हुक्म निकाल दिया कि अमीन द्वारा सीमा की जांच कराई जाय। ऐसा हुक्म निकालकर राव अमरसिंह के आदमियों को बदला लेने से रोक दिया।

राव अमरसिंह को जब इस बात का पता लगा, तो उन्होंने नागौर जाने की तैयारी कर ली।

सलावतखां और रावजी में कुछ कहा-सुनी हो गई। स्वाभाविक था कि सम्राट सलावतखां का पक्ष लेता, क्योंकि वह उसका नजदीकी रिश्तेदार था। अत: बादशाह ने राव अमरसिंह को दरबार में ही रोक लिया।

जब आपस में बातचीत ज्यादा बढ़ी तो सलावतखां ने अमरसिंह को गंवार कहने के लिए मुंह खोला। पहला अक्षर 'ग' ही उच्चारण कर सका था कि वीर अमरसिंह ने कटार निकालकर उसके शरीर में घुसेड़ दी और सलावतखां की वहीं पर मृत्यु हो गई।

इस घटना को लेकर एक दोहा प्रसिद्ध है —

उण मुखते 'गग्यो' कह्यो, इण कर लेई कटार।
'वार' कहण पायो नहीं, जमदढ़ हो गई पार।।

६० मत बरजै

एक राजपूत था। अच्छा योद्धा था वह। योद्धा होने के साथ-साथ वह युद्ध-विद्या में प्रवीण भी बहुत था। उदयपुर के राणाजी उसको बहुत

मानते थे। उसके पास जो घोड़े थे, वे इतने अच्छे थे कि देखनेवाला देखता ही रह जाता। वह स्वयं भी घोड़ों को बहुत प्यार करता था। अपने हाथ से उन्हें गुड़ और दाणा खिलाया करता तथा समय-समय पर घी भी दिया करता था।

ठकुरानी को यह बात नहीं सुहाती थी कि घोड़ों को घी दिया जाय। इसलिए वह अपने पति को इसके लिए मना किया करती। तब एक दिन पति ने कहा :

मत बरजे तूं कामिणी, घोड़ा नैं घी देतां।
कदेक आडा आवसी, बाडाली वैतां।।

कामिनी यों हार माननेवाली थोड़े ही थी ! उसने प्रत्युत्तर दिया :

आक बटूकै पवन मेख, तुरियां आगल जाय।
मैं तन्नै पूछूं सायबा, हिरण किसा घी खाय।।

राजपूत को उस उक्ति का कुछ उत्तर तो नहीं सूझा, लेकिन फिर भी उसने अपना क्रम जारी रखा। कामिनी कलह करती रही, करती रही और वह घोड़ों को घी देता रहा, देता रहा। दोनों ही अपनी-अपनी आदत से लाचार थे।

एक बार की बात कि उदयपुर के राणा ने अपने किसी एक मित्र राजा की सहायतार्थ इस राजपूत को एक युद्ध में भेजा। राजपूत तथा उसके थोड़े-से साथियों ने उस घमासान युद्ध में जो वीरता दिखाई, उसे देखकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ और राजपूत को बारह गांव इनाम में दे दिये। युद्ध में राजपूत के घोड़ों ने गज़ब का चमत्कार दिखाया था।

जब वह राजपूत अपने गांव लौटा, तो उसकी पत्नी ने अपने पति की आरती उतारी। राजपूत ने चुटकी लेते हुए अपनी पत्नी से पूछा, "अब कहो, मेरा घोड़ों को घी देना सार्थक था या नहीं ?"

पत्नी के पास इसका कोई उत्तर नहीं था, लेकिन उसकी निरुत्तरता में ही उसकी प्रसन्नता समाई हुई थी।

६१ यक्ष के सवाल, युधिष्ठिर के जवाब

महामुनि व्यासदेवजी-रचित 'महाभारत' ज्ञान का भंडार कहा जाता है। ग्रंथकार का यह दावा है कि कहीं भी जो कुछ है, वह इस ग्रंथ में है। महाभारत में १८ पर्व हैं और १ लाख से अधिक श्लोक हैं। इस ग्रंथ में वन-पर्व को उसी तरह सर्वश्रेष्ठ मानते हैं जिस तरह श्रीमद्भागवत में दशम स्कन्ध को, रामचरितमानस में अयोध्याकांड को और श्रीमद्भगवतगीता में द्वितीय अध्याय को।

वन-पर्व में 'युधिष्ठिर-यक्ष-संवाद' के नाम से एक प्रकरण है, जो बहुत ही लोकप्रिय है। वही प्रकरण संक्षेप में नीचे दिया जाता है।

पांडव जब अपने दुःख के दिन बनवास में बिता रहे थे तब एक बार एक ब्राह्मण रोते हुए उनके पास आया और बोला, "अरणी और मथनी नाम की दो लकड़ियां मेरे पास थीं, जिन्हें आपस में रगड़कर मैं अग्नि पैदा किया करता था और यज्ञ-हवन आदि सम्पन्न किया करता था। उन लकड़ियों को एक मृग उठाकर ले गया है।"

उसने आग्रहपूर्वक निवेदन किया, "कृपया आप लोग उस मृग का पीछा कीजिये और मेरी ये लकड़ियां उससे छीनकर मुझे ला दीजिये, नहीं तो अपने द्वारा नित्य की जाने वाली यज्ञ-हवनादि धार्मिक क्रियाओं को मैं सम्पन्न नहीं कर सकूंगा, और उनके सम्पन्न न होने से मैं अधर्म का, नरक का, भागी बनूंगा।"

शरणागत ब्राह्मण के दीन वचन सुनकर पांचों पांडव उस मृग के पीछे दौड़े। दौड़ते-दौड़ते पांडव थक गये, वे पसीने में तर हो गये, पर वह माया-मृग अदृश्य हो गया। पांडव विश्राम करने के लिए एक वृक्ष के नीचे बैठ गये। वे प्यास से व्याकुल हो गये थे। रास्ता उनका पहचाना हुआ नहीं था। इसलिए अब वे जायं तो कहां जायं और कैसे अपनी प्यास बुझावें?

महाराजा युधिष्ठिर ने व्यथित स्वर में महारथी नकुल से कहा, "वत्स, तुम जाओ और कहीं कोई जलाशय खोजकर अपनी प्यास बुझाओ और हमारे लिए भी जल लेते आओ।"

नकुल ने वृक्ष पर चढ़कर देखा तो उसे दूर पर कुछ ऐसे वृक्ष दिखाई दिये, जो जलाशय के किनारे पर ही हो सकते हैं। उसे वहां कुछ सारस भी उड़ते हुए दिखाई दिये। नकुल को विश्वास हो गया कि वहां अवश्य कोई जलाशय होना चाहिए। वह उस दिशा की ओर चल पड़ा।

गिरते-पड़ते वह जलाशय पर पहुंचा। जलाशय में हिलोरें मारते हुए स्वच्छ निर्मल और शीतल जल को देखकर उसकी वाछें खिल गईं, वह तो जैसे निहाल हो गया।

लेकिन ज्योंही वह पानी पीने को उद्यत हुआ कि उसे आकाशवाणी सुनाई दी— "नकुल, पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो, उसके वाद पानी पीओ। यदि विना मेरे प्रश्नों का उत्तर दिये तुमने पानी पीने का प्रयास किया तो तत्काल तुम्हारी मृत्यु हो जायगी।"

नकुल ने आकाशवाणी की अवज्ञा की और हाथों में लिये पानी को होठों से छुआते ही उसकी मृत्यु हो गई।

कुछ देर वीत गई। नकुल लौटकर नहीं आया तो युधिष्ठिर ने ज्योतिष-विद्या में निष्णात अपने दूसरे भाई महापंडित सहदेव से कहा, "वत्स, तुम जाओ।"

सहदेव गया और उसकी भी वही गति हुई।

जब सहदेव भी लौटकर नहीं आया तो युधिष्ठिर ने धनुर्धारी वीर अर्जुन को भेजा और वह भी उसी तरह मृत्यु को प्राप्त हुआ।

जब तीनों ही भाई लौटकर नहीं आये तो महाराजा युधिष्ठिर के मन में वड़ी चिंता हुई। उन्होंने महापराक्रमी गदाधारी भीम से कहा, "तुम जाओ। कहीं से भी अपने तीनों भाइयों को खोजकर लाओ। स्वयं पानी पीकर आओ और मेरे लिए भी लेते आओ। अब तो तुम्हीं मेरे एकमात्र आशा-दीप हो।"

भीम अपने भाइयों की तथा जलाशय की खोज में निकला। चलते-चलते वह भी उसी जलाशय पर पहुंचा, पर पानी पीने का ज्योंही उसने प्रयास किया, उसे भी वही आकाशवाणी सुनाई दी। भीम ने चेतावनी सुनी-अनसुनी कर दी। आखिर उसका भी वही हाल हुआ जो उसके तीन अन्य भाइयों का हुआ था।

जब भीम भी लौटकर नहीं आया तो युधिष्ठिर अत्यन्त व्याकुल हो उठे। वे स्वयं अपने भाइयों की खोज में निकले। चलते-चलते वे उसी जलाशय पर पहुँचे और वहां अपने चारों भाइयों को मृत पड़े देखा, तो उनका हृदय विदीर्ण हो गया।

युधिष्ठिर बड़े ही कातर स्वर में विलाप करने लगे। उन्हें आकाश-वाणी सुनाई दी, "तुम्हारे भाइयों को बारी-बारी से मैंने कहा था कि मेरे प्रश्नों का उत्तर दो और तब पानी पीओ, नहीं तो तुम्हारी मृत्यु हो जायगी, लेकिन तुम्हारे भाइयों ने मेरे वचनों की अवज्ञा की। इसीलिए मेरे शाप से उनकी मृत्यु हुई है। अब मैं तुम्हें भी यही कहता हूं कि यदि तुम पानी पीना चाहते हो तो पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो, नहीं तो तुम्हारी भी यही गति होने वाली है, जो तुम अपने भाइयों की देख रहे हो।"

इस पर युधिष्ठिर ने कहा, "पहले मैं प्रश्नकर्त्ता को देखना चाहता हूं, उसके बाद मैं प्रश्नों का यथामति उत्तर दूंगा।"

स्वयं धर्मराज, जो युधिष्ठिर की बल, बुद्धि और धर्म-भावना की थाह लेने के लिए पहले मृग बने थे, अब विशालकाय यक्ष के रूप में प्रकट हुए। नमस्कार के बाद युधिष्ठिर ने उनसे कहा, "अब आप अपने प्रश्न पूछें।"

यक्ष ने कई प्रश्न पूछे और युधिष्ठिर ने सबका यथोचित उत्तर दिया। उसी प्रश्नोत्तरी में से कुछ अंश नीचे दिया जाता है :

प्रश्न : धनों में उत्तम धन क्या है ? (धनानां किमुत्तमं धनम् ?)

उत्तर : धनों में श्रेष्ठ धन शास्त्र-ज्ञान है ? (धनानामुत्तमं श्रुतम्)

प्रश्न : लोक में श्रेष्ठ धर्म क्या है ? (कश्च धर्मः परो लोके ?)

उत्तर : लोक में दया ही श्रेष्ठ धर्म है ? (आनृशंस्यं परो धर्मः।)[१]

प्रश्न : उत्तम दया किसे कहते हैं ? (दया च का परा प्रोक्ता ?)

उत्तर : सारे लोगों के सुख की इच्छा ही सच्ची दया है। (दया सर्व-सुखैपित्वम्।)

प्रश्न : किसके साथ की हुई मित्रता नष्ट नहीं होती ? (कैश्च संधिर्न जीर्यते ?)

१. तुलसीदास ने भी कहा है—"दया धर्म को मूल है।"

उत्तर : सत्पुरुषों के साथ की हुई मित्रता नष्ट नहीं होती। (संधिः सद्भिर्न जीर्यते[१])

प्रश्न : पृथ्वी से भारी चीज क्या है ? (किंस्विद् गुरुतरा भूमेः ?)

उत्तर : माता का गौरव पृथ्वी से भारी है। (माता गुरुतरा भूमेः।)

प्रश्न : दुर्जय शत्रु कौन है ? (कः शत्रुर्दुर्जयः पुंसाम् ?)

उत्तर : क्रोध दुर्जय शत्रु है। (क्रोधः सुदुर्जयः शत्रुः।)

प्रश्न : सुखी कौन है ? (को मोदते ?)

उत्तर : जिसके सिर पर ऋण न हो ? (अनृणी।)

प्रश्न : संसार में आश्चर्य क्या है ? (किमाश्चर्यम् ?)

उत्तर : नित्य ही प्राणी यमलोक में जा रहे हैं, फिर भी जो बचे हुए हैं वे सदा-सर्वदा जीने की इच्छा करते हैं। इससे बड़ा आश्चर्य और क्या होगा ? (अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्। शेषाः स्थिरत्वमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥)

प्रश्न : ज़ीवित कौन है ? (कः जीवते ?)

उत्तर : जो कीर्तिमान है। (कीर्तिर्यस्य स जीवति)[२]

प्रश्न : चलने के लिए उत्तम मार्ग क्या है ? (कः पंथाः ?)

उत्तर : जिस मार्ग से श्रेष्ठजन, महज्जन चले हैं, चलते हैं, वही उत्तम मार्ग है। (महाजनो येन गतः स पंथाः।)

यक्ष अपने सारे प्रश्नों का समुचित उत्तर पाकर संतुष्ट हो गया और बोला, "हे युधिष्ठिर, तुम पानी पीकर तृप्त होओ। इसके अलावा मैं तुम्हारे मृत भाइयों में से भी एक को जिला दूंगा। बोलो, किसे जिलाऊं ?"

युधिष्ठिर ने नकुल का नाम लिया, तो यक्ष ने कहा, "अर्जुन-जैसे धनुर्धारी और भीम-जैसे पराक्रमी को छोड़कर तुम नकुल के लिए जीवन-दान क्यों चाहते हो ?"

१. मित्रता के बारे में एक राजस्थानी दोहा प्रचलित है, जिसमें कहा है :

सठ सनेह जीरण बसन, जतन करंता जाय।
सजन सनेह रेसम लछा, घुलत घुलत घुल जाय॥

२. गीता में भी कहा गया है—"सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।"

युधिष्ठिर ने बताया, "मेरी दो माताओं में से एक माता कुन्ती का एक पुत्र मैं जीवित हूं, माता माद्री का भी एक पुत्र जीवित रहना चाहिए।"

युधिष्ठिर की धर्म-भावना और उनके बुद्धि-चातुर्य से धर्मराज, जो कि यक्ष बनकर आये थे, परम संतुष्ट हो गये। उन्होंने उनके चारों भाइयों को जीवन-दान दिया।

तब पांचों भाई शीतल और सुस्वादु जल पीकर तृप्त हुए तथा अपने स्थान को लौट आये।

६२ ||||| कलियुग

महाभारत के पूर्वोक्त कथानक पर आधारित एक लोक-कथा राजस्थान में प्रचलित है।

पांडव लोग अपने दुर्दिन वनवास में बिता रहे थे। एक बार की बात है कि वे भटक कर दूर चले गये। उन्हें मार्ग का ज्ञान नहीं रहा और थके-मांदे, पसीने से तर, एक पेड़ की छांह में बैठे प्यास से व्याकुल हो रहे थे।

युधिष्ठिर ने नकुल को पानी लाने के लिए भेजा। नकुल थोड़ी ही दूर गया होगा कि उसे एक बड़ा कुआं दिखाई दिया, जिसके इर्द-गिर्द कई छोटे-छोटे कुएं बने हुए थे। नकुल के देखते-देखते बड़ा कुआं ऊझला[1] और आसपास के सारे कुएं भर गये। बड़ा कुआं बिल्कुल सूख गया और स्वयं प्यासा हो गया। उसने छोटे कुओं से पानी मांगा तो उन्होंने मन मार कर थोड़ा-थोड़ा पानी बड़े कुएं को दिया, लेकिन बड़े कुएं की प्यास नहीं बुझी। वह प्यासा (खाली) ही रहा।

ज्यों ही नकुल एक कुएं पर पानी पीने और भाइयों के लिए पानी ले जाने के लिए पहुंचा, उसे आकाशवाणी सुनाई दी, "नकुल, तुमने जो दृश्य देखा है उसका अर्थ बताकर ही पानी पी सकते हो, नहीं तो तुम्हारी मृत्यु हो जायगी।"

१. कुएं का पानी उछला।

नकुल प्यास से व्याकुल था। उसने आकाशवाणी की ओर ध्यान नहीं दिया। नतीजा यह हुआ कि उसकी तत्काल मृत्यु हो गई।

नकुल नहीं लौटा तो युधिष्ठिर ने सहदेव को भेजा। कुछ ही दूर जाने पर सहदेव ने देखा कि एक दुमुंहा भैंसा हरी-हरी घास दोनों ओर से चर रहा है, लेकिन फिर भी वह कृशकाय है। सहदेव को वहुत आश्चर्य हुआ।

पास में ही एक तालाव था। सहदेव उस पर गया तो उसे भी आकाशवाणी सुनाई दी, "सहदेव, पहले तुम जो दृश्य देखकर आये हो उसका अर्थ वताओ, उसके वाद पानी पी सकते हो। यदि तुमने विना अर्थ वताये पानी पीने का प्रयत्न किया तो तुम्हारी मृत्यु हो जायगी।"

सहदेव ने आकाशवाणी सुनी-अनसुनी कर दी। उसका भी वही हाल हुआ।

जव दोनों भाई लौटकर नहीं आये तो युधिष्ठिर ने अर्जुन को भेजा। कुछ दूर जाने पर अर्जुन को एक विचित्र दृश्य दिखाई दिया। एक खेत था, जिसके चारों ओर वाड़ लगी हुई थी। वह वाड़ वार-वार सरककर खेत को चर रही थी और वापस अपने स्थान पर आ जाती थी। अर्जुन चकित रह गया, लेकिन वह प्यास से व्याकुल था, सो आगे वढ़ा। थोड़ी ही दूर जाने पर उसे भी आकाशवाणी सुनाई दी, "अर्जुन, जो कुछ तुमने देखा है, उसका अर्थ वताकर आगे वढ़ो, नहीं तो तुम्हारी मृत्यु हो जायगी।"

आकाशवाणी की अवज्ञा करने पर अर्जुन भी मृत्यु को प्राप्त हुआ।

अव आई भीम की वारी।

जव भीम पानी लेने गया तो उसे भी एक अचरज-भरा नजारा देखने को मिला। एक गाय हाल-हाल की व्याई है और वह गाय अपनी वाछी का स्तन्यपान कर रही है। भीम को वड़ा आश्चर्य हुआ। वह एक वार तो ठिठका, लेकिन वह वहुत ही प्यासा था, इसलिए आगे वढ़ने को हुआ।

तभी उसे आकाशवाणी सुनाई दी, जिसकी अवज्ञा करने पर उसकी भी मृत्यु हो गई।

जव चारों भाई लौटकर नहीं आये तो युधिष्ठिर को वहुत घवराहट हुई और वे अपने भाइयों की तलाश में निकले।

शुरू में ही उन्हें कुओं वाला दृश्य दिखाई पड़ा और आकाशवाणी ने

उस दृश्य का अर्थ पूछा।

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "यह कलियुग के आने की सूचना है। कलियुग में पिता अपने अनेक पुत्रों का पालन-पोषण कर सकेगा, करेगा, लेकिन अनेक पुत्र मिलकर भी अपने एक पिता का पालन-पोषण नहीं करसकेंगे।"

आकाशवाणी हुई, "तथास्तु !" नकुल जीवित हो गया और युधिष्ठिर आगे बढ़े।

थोड़ा आगे बढ़ने पर उन्हें दोमुंहा भैंसा दीख पड़ा और फिर वही आकाशवाणी हुई।

युधिष्ठिर ने बताया, "यह भी कलियुग के आने की सूचना है। कलियुग में ऐसे भी न्यायाधीश, राज्याधिकारी, पंच-सरपंच आदि होंगे, जो वादी-प्रतिवादी दोनों से रिश्वत लिया करेंगे, पर फिर भी उनका पेट नहीं भरेगा। वे भूखे-के-भूखे और कृशकाय ही बने रहेंगे।"

आकाशवाणी हुई, "तथास्तु !" सहदेव भी तुरन्त जी उठा।

युधिष्ठिर और आगे बढ़े तो उन्हें बाड़वाला दृश्य दिखाई दिया।

अर्थ पूछे जाने पर युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "कलियुग में रक्षक ही भक्षक हो जायंगे।"[1]

आकाशवाणी हुई, "तथास्तु !" अर्जुन जीवित हो गया और युधिष्ठिर आगे बढ़े।

थोड़ी दूर जाने पर उन्हें गाय और बाछीवाली दृश्य दिखाई दिया, जिसका आकाशवाणी ने अर्थ पूछा।

युधिष्ठिर ने बताया, "कलियुग में बेटी का धन मां खा जाया करेगी, और ऐसा करके पोषित होने में वह किसी तरह की ग्लानि का अनुभव नहीं करेगी।"

आकाशवाणी हुई, "तथास्तु !" भीम जीवित हो गया।

पांचों भाई पानी पीकर अपने स्थान लौट आये।

यह लोक-कथा आज की स्थिति में कितनी सच्ची, कितनी सटीक साबित हो रही है, इसका अनुमान पाठक स्वयं कर सकते हैं।

१. रक्षक के भक्षक होने के बारे में राजस्थानी बोली में एक दोहा है :

राजा डंडे रइत नैं, रोवै किण ढिग जाय।
बाड़ लगाई खेत नैं, बाड़ खेत नैं खाय॥

६३ जाट और मियां

दो मित्र थे : एक जाट और एक मियां। जाट चालाक था और कंजूस भी, जबकि मियां भोला और उदार, लेकिन दोस्ती निभ रही थी। दोनों के गांव आस-पास ही थे। इसलिए जाट भोजन के समय बहुत दफे मियां के घर पहुंच जाया करता था। मियां उसे सदा ही खातिरदारी से भोजन कराता और दोनों मिलकर घंटों गप-शप किया करते।

कई दिन बीत गये, तब एक दिन मियां ने कहा, "मेरे दोस्त, मैंने तुम्हारे घर कभी भोजन नहीं किया, इसलिए एक दिन आना चाहता हूं।"

जाट ने कहा, "हां-हां भाई, जरूर आओ। तुम्हारी भाभी तो मुझे अक्सर उलाहना देती रहती है कि तुम इतनी दफे अपने दोस्त के यहां जाते हो, उसे भी कभी अपने यहां बुलाया करो।"

तय हो गया कि कल मियांजी अपने दोस्त जाट के घर भोजन के वक्त पहुंचेंगे। घर आकर जाट ने सारी बात अपनी पत्नी से कही। दोनों ने तय किया कि मियां को भोजन तो कराना नहीं है, लेकिन उसे यह भी मालूम नहीं होने देना है कि अपन भोजन कराना नहीं चाहते। दोनों ने मिलकर एक तरकीब सोच ली और उसे पूरा करने के लिए गांव के एक बनिये के पास गये। बनिये को उन्होंने अपनी योजना बताई और बनिया राजी हो गया। जाट अपना लेन-देन, क्रय-विक्रय उसी बनिये की दुकान से करता था। वह बनिया उस जाट का 'बोहरा[1]' भी था।

दूसरे दिन मियां जाट के घर पहुंचा। जाट ने उसे आदरपूर्वक बैठाया।

१. रुपया उधार देने का काम करनेवाला।

अन्दर जाटनी ने चूल्हे पर एक तवा चढ़ा दिया और गरम हो जाने पर उस पर वार-वार पानी के छींटे मारने लगी, जिससे छन्न-छन्न की आवाज वाहर चौपाल में स्पष्ट सुनाई पड़ती रहे।

काफी देर हो गई तव मियां ने कहा, "इतनी देर से रसोई वनने की आवाज आ रही है, इतने सारे व्यंजन वनाने की क्या आवश्यकता है ?"

जाट ने कहा, "तुम्हारी भाभी सुवह से इस तैयारी में लगी हुई है। मेरे वहुत कहने पर भी मानी नहीं। कहती है, मेरे देवर के आने का कव-कव काम पड़ता है, आज मन भरकर कई प्रकार की चीजें तैयार करूंगी।"

मियां कुछ जवाव देता उसके पहले तो वह वनिया आ धमका, जिसके पास पहली रात को जाट गया था। दो-चार वहियां भी वह अपने साथ लाया था। आते ही मियां से सलाम-मुजरा करके वोला, "आपके वाप ने हमारी दुकान से दो सौ रुपये उधार लिये थे। हमारे यहां तो, आप जानते हैं और आपका वह दोस्त जाट भी जानता है, कि 'वोरगत'[1] का काम है, इसलिए उधार देते ही रहते हैं, लेकिन कई वार तकाजा करने पर भी मेरे ये रुपये आजतक वापस नहीं मिले हैं।"

मियां वड़े आश्चर्य में पड़ा। उसने कहा, "तुम पागल तो नहीं हो गये ? मेरे वाप ने कभी किसीसे रुपये उधार नहीं लिये थे और न मैंने ही आजतक किसी से रुपये उधार लिये हैं। मैं अपना मजे में खाता-कमाता हूं। मेरी यां मेरे वाप की माली हालत कभी ऐसी गई-गुजरी नहीं हुई थी कि किसी से रुपया उधार लेना पड़े। तुम किसी दूसरे के भ्रम में वातें कर रहे मालूम होते हो।"

वनिये ने मियां से उसके गांव का नाम वताया, उसका खुद का और उसके वाप का सही-सही नाम वताया और कहा, "यह भ्रम की वात नहीं है, मेरे रुपये देने पड़ेंगे। ये वहियां पड़ी हैं। वनिये की वही कभी झूठी नहीं हो सकती, यह तो तुम भी मानोगे। वहियां तुम खुद देख लो और मेरे रुपये गिन दो।"

मियां ने कहा, "यह वात विल्कुल झूठ है कि मेरे वाप ने कभी किसी

१. व्याज पर रुपया उधार देने का धंधा।

से भी रुपये उधार लिये थे।"

इसपर बनिये ने जोर से कहा, "तुम्हें अभी झूठ-सच का पता बता देता हूं। आज तुम मेरे गांव में आये हो, तो बिना रुपये चुकाये यहां से वापस मैं भी नहीं जाने दूंगा। देखूंगा, तुम कैसे वापस जाते हो।"

अब मौका देखकर जाट अपनी मिली भगत के अनुसार मियां से बोला, "चलो दोस्त, मैं देखता हूं, यह कौन होता है रोकने वाला ? मैं तुमको तुम्हारे गांव पहुंचा आता हूं। बड़ा रोकनेवाला आया है यह !"

ऐसा कहकर उसने बनिये की ओर देखा और बोला, "देखो साहजी, मेरे घर पर आये मेहमान दोस्त का तुम इस तरह अपमान नहीं कर सकते और न इसे रोककर ही रख सकते हो।"

ऐसा कहकर जाट मियां का हाथ पकड़कर खड़ा हो गया और बोला, "चलो, मैं देखता हुं, यह कैसे तुम्हें रोकता है !" वह मियां को लेकर चल पड़ा और उसके गांव पहूंच गया। चूंकि जाट ने अपने घर पर कुछ खाया नहीं था, अतः मियां के घर पर ही खाना खाया और फिर अपने घर लौट आया।

घर आकर वह अपनी पत्नी से बोला, "देखो, मैंने अपनी चतुराई से कैसे उस मियां को टरका दिया और उसपर जो उपकार लादा, वह अलग।"

जाटनी ने कहा, "चतुराई तुम्हारे अकेले की नहीं थी। यों सारा यश अकेले मत लो। अपन दोनों की मिलकर सोची हुई तरकीब थी, इसलिए इस यश को आधा-आधा बांटना होगा।"

इसपर जाट ने कहा, "देखो, उस बनिये ने भी नाटक का अपना पार्ट कितनी खूबी से निभाया। उसके बिना हम सफल थोड़े ही हो सकते थे। इसलिए यश में से कुछ हिस्सा उसको भी देना होगा।"

और इस तरह उस यश के तीन बराबर हिस्सेदार माने गये।

६४ दो ठगां ठगाई

एक धनी सेठ था। उसके एक लड़की थी। वह रंग-रूप की तो बहुत सुन्दर थी, लेकिन थी काणी और साथ ही अनपढ़ तथा गंवार भी। गंवार इतनी कि फूहड़ भी कह सकते हैं।

सेठ के पास धन काफी था और संतान के नाम पर केवल यह लड़की ही थी, अतः उसका लालन-पालन काफी लाड़-प्यार के साथ हुआ था। लेकिन कोई किसी का लालन-पालन कितने भी लाड़-प्यार से करे, बुद्धि तो विधाता की दी हुई हो तो ही काम आवे—"अकल न वाड़ी नीपजे, हेत न हाट विकाय।"[1]

आसपास के शहरों में उस लड़की के काणी होने तथा उसके गंवारपन की जानकारी सभी लोगों को थी, इसलिए उसका संबंध हुआ पार पड़ता नहीं था। ज्यों-ज्यों लड़की बड़ी होती जा रही थी, सेठ की चिन्ता भी बढ़ती जा रही थी।

आखिर उसने एक दिन अपने नाई को बुलाकर कहा, "किसी तरह इस लड़की का सम्बन्ध पार पाड़कर आ। तू ही एक ऐसा आदमी है, जो यह काम 'पार घाल'[2] सकता है। कहीं दूर देश जाकर इस लड़की का कोई अच्छा-सा सम्बन्ध पक्का कर आवे, तो चित्त को शान्ति मिले, नहीं तो आजकल मन बहुत उद्विग्न रहने लगा है। मैं तुझे इसके बदले मुंह-मांगा इनाम-इकराम दूंगा। आभा छाये यौवन वाली यह लड़की बिन ब्याही रहे, यह मुझसे देखा नहीं जाता। गांव के लोग भी मेरी तरफ अंगुली उठाने लगे हैं और लड़की की मां की तो आंखें ही नहीं सूखतीं।"

नाई 'चातरंग'[3] था। "मिनखां में नाई, पखेरूआं में काग; पाणी मायलो काछुवो, तीनों दगाबाज,"[4] यह कहावत उस नाई पर पूरी-पूरी

१. अकल खेत में नहीं निपजती और हेत याने प्रीति दुकानों पर नहीं बिकती।
२. पार लगाना। ३. चतुर और धूर्त साथ-साथ।
४. मनुष्यों में नाई, पक्षियों में कौआ और पानी में रहने वाला कछुआ—तीनों दगा-बाज होते हैं।

लागू पड़ती थी। नाई ने हां भर ली और बोला, "बाई का सम्बन्ध आपके मनचाहा पार पाड़कर नहीं आऊं तो आपको मुंह नहीं दिखाऊं।"

खर्ची-वर्ची के लिए आवश्यतानुसार रुपये लेकर नाई तो विदा हो गया, और सेठ-सेठानी दिन गिनने लगे कि देखें, नाई कैसा-क्या सम्बन्ध करके आता है और कितने दिन में आता है।

दिन गुड़कते गये, नाई एक शहर से दूसरे शहर और दूसरे शहर से तीसरे शहर यों घूमता-घामता आखिर एक ऐसे शहर में पहुंचा, जहां उसे पता लगा कि वहां पर एक 'कोड़ीधज'[१] सेठ के यहां ब्याह की उम्रवाला एक लड़का कुंवारा है। उसे यह भी पता लगा कि वह देखने-सुनने में सुन्दर है तथा सेठ के पास अनाप-शनाप माया है। देश-देशान्तर में उसका व्यापार फैला हुआ है।

पता लगने की देर थी कि नाई तुरन्त भागा-भागा सेठ की दुकान पर गया और वहां देखा कि काफी संख्या में मुनीम-गुमाश्ते बैठे हुए 'रोजनावां'[२] लिख रहे हैं। कुछ लोग आये हुए ग्राहकों को सामान दे रहे हैं और कुछ लोग बाहर से आये हुए माल को सहेजकर गोदामों में रखवा रहे हैं। मोटे से गद्दे पर, बड़े-से मसनद के सहारे, दोनों बाप-बेटे बैठे हुए हैं और वे आनेवाले लोगों से भांति-भांति के सौदे-सुलफे की बातें कर रहे हैं।

सब-कुछ देखकर नाई को लगा कि संबंध है तो अनुकूल। मौका देखकर नाई ने सेठ के सामने सम्बन्ध की बात चलाई। उसने अपने सेठ की धन-दौलत, कारबार और विवाह में दिये जानेवाले दान-दहेज आदि की बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बात की।

नाई स्वयं नौजवान था। उसने एक पग में चांदी का कड़ा पहन रखा था, हाथों में सोने की 'चुड़'[३] और गले में मोटा-सा 'जड़ाऊ डोरा'[४]। कान में 'वाली'[५] तथा 'सांकली'[६] पहने हुए था। 'छिरंगेदार' धोती और सिर पर 'मलियागिरी'[७] साफा बांधे हुए था। इस तरह वह बहुत ही खूब-

१. करोड़पति।

२. नित्य-प्रति लिखी जाने वाली वही; ३. पहुंचे में पहनने का एक गहना; ४. गले में पहना जानेवाला जड़ाऊ गहना; ५. कान में पहनने की मोटी बाली; ६. कान के चारों तरफ और बाली से जुड़ी रहने वाली एक जंजीर; ७. एक रंग-विशेष।

सूरत लगता था, यद्यपि था एक आंखवाला, लेकिन फूटी हुई आंख की जगह उसने झूठी आंख लगा रखी थी, जिससे सहज ही किसी को कुछ पता नहीं लगता था और न उसकी खूबसूरती में ही कोई फर्क आता था।

सेठ को अपने लड़के के सम्बन्ध की आतुरता थी, क्योंकि वह केवल देखने में ही सुन्दर था, यों था पांवों से हीन। अतः नाई को 'घर-आई गंगा' मानकर सेठ ने तुरन्त 'हां' भर ली। फिर नाई से पूछा कि लड़की 'सांवणी-सरूप'[1] कैसी है, तो नाई ने कहा कि सेठ साहब, लड़की तो चांद का टुकड़ा है, देखने से नजर लगे और स्पर्श करने से गात मैला हो। मुझे देख लो और उस लड़की को देख लो। सेठ ने फिर पूछा, "लड़की चतुर और सुलक्खिनी है न ?"

नाई ने कहा, "इसका पता तो लड़की आपके घर आयेगी, तब अपने-आप ही चल जायगा, मैं क्या बताऊं। मेरा तो इतना ही कहना है कि आंख मींचकर सम्बन्ध कर लीजिये। आप मुझे सदा-सदा के लिए याद ही करते रहेंगे।"

सेठ की हालत तो 'औरत के चित रहहि न चेतू' जैसी थी, अतः नाई की मर्मभरी वाणी का अर्थ नहीं समझा और सम्बन्ध पक्का कर दिया। नाई ने नारियल दे दिया तथा विवाह का मुहूर्त दिखाकर 'साये'[2] की तिथि निश्चित हो गई। नाई ने सोचा, घर तो बड़ा है, लड़का देखने-सुनने में भी सुन्दर है, लेकिन दुकान बढ़ाकर ये लोग घर जायं, तब लड़के की चाल-ढाल ज़रा और देख लेनी चाहिए। इसलिए वह दुकान के बाहर बैठ गया। सेठ ने उसको टरकाने की बहुत कोशिश की, लेकिन वह यही कहता रहा कि सेठसाहब, आपके यहां ठाठ-बाट देखते मन की तृप्ति ही नहीं होती। आंखें अघाती ही नहीं। इसलिए बैठा हूं। क्या जल्दी पड़ी है, चला जाऊंगा।

आखिर शाम का वक्त हुआ तो सेठ को घर जाना ही था। घर जाती दफे 'बनड़े'[3] को जब कुर्सी पर बैठाकर गद्दी से उतरते देखा, तो नाई सारी बात ताड़ गया। सेठ भी समझ गया कि नाई को वहम हो गया है। अतः

१. सुन्दर, रूपवती   २. विवाह का मुहूर्त   ३. वर।

इसे पटाना चाहिए। वह नाई को अपने घर ले गया और कहा, "मेरे घर का कारवार और ठाट-वाट तुम देख चुके हो। तुम्हारे सेठ की लड़की को यहां राज्य भोगने-जैसा सुख मिलेगा। हां, लड़के के पैर में ज़रा-सी कसर जरूर है, इसलिए उससे चला-फिरा नहीं जाता, लेकिन इतनी-सी कसर के लिए सम्बन्ध रुकना नहीं चाहिए।"

ऐसा कहते हुए इक्यावन अशर्फियां नाई के हाथ पर रख दीं। मार चांदी की ही वुरी होती है, फिर सोने का तो कहना ही क्या! नाई ने कहा, "आप निश्चिन्त रहें, सम्वन्ध पक्का समझें!"

ऐसा कहकर वह वहां से वापस रवाना हो गया और अपने सेठ के पास आकर उसे सम्वन्ध की खवर दे दी।

निश्चित तिथि पर वारात आई। 'जनवासा' दिया गया। सायंकाल 'ढकाव' के लिए जव वारात लड़कीवालों के घर पहुंची, तो लड़के के मामा ने वर को गोदी में लेकर घोड़ी से उतारा और 'मांड'[1] के नीचे ले गया। लड़कीवालों से कहा गया कि हमारी कुल-रीति के अनुसार वनड़े को गोदी में लेकर ही फेरे दिलाने पड़ते हैं। कुल-रीति से कोई इन्कार करे तो भला कैसे करे! अतः फेरे हो गये और दूसरे सारे 'नेगचार' भी सम्पन्न हो गये। तव कन्या-पक्ष की ओर से गीत गाते-गाते एक ब्राह्मणी ने गाया "गढ़ जीत लियो मोरी काणी!" तव वर-पक्ष की ओर से बैठी हुई नाइन ने उस गीत को पूरा करते हुए दूसरी कड़ी गाई—"वर ठाड़ होय जद जाणी।" याने, तुम्हारी लड़की काणी है तो हमारे वर महाशय भी पांवों से हीन हैं, खड़े नहीं हो सकते। इस तरह दो ठगाँ ठगाई हुई। दोनों ने एक-दूसरे को ठगा है।"

वर के पिता ने जव वधू-पक्ष के नाई से कहा कि तुमने हमको यह तो नहीं वताया था कि लड़की काणी है, तो नाई अपनी कांच की आंख हाथ से निकालते हुए वोला कि मैंने तो स्पष्ट कहा था कि लड़की मेरे-जैसी है। आप समझे नहीं, तो मैं क्या करूं!

वर के पिता ने फिर कहा, "तुमने यह भी नहीं वताया था कि लड़की

१. मंडप

में किसी तरह के लक्खण नहीं हैं।"

नाई ने उत्तर दिया, "मैंने यह भी कब कहा था कि लड़की सुलक्खिनी है ? मैंने कहा था कि आंख मींचकर सम्बन्ध कर लीजिये। इसका मतलब साफ ही यह होता है कि आंख खोलकर देखेंगे तो आप संबंध कदापि नहीं करेंगे। तीसरी बात मैंने आपसे यह कही थी कि आप मुझे सदा-सदा लिए याद रखेंगे। अब आप ही बताइये कि मैंने कौनसी बात झूठ कही थी, जिसके लिए आप मुझे उलाहना दे सकें ?"

६५ तीन मित्र

तीन मित्र थे—एक क्षत्रिय, एक ब्राह्मण और एक जाट। तीनों यात्रा पर निकले। पहले पड़ाव पर जब उन्होंने रसोई बनाई तो चूरमे[1] के चार लड्डू तैयार किये। एक-एक लड्डू तीनों ने खा लिया और बचे हुए एक लड्डू के बारे में यह तय हुआ कि तीनों आदमी जब सो जायं, तब जिसको अच्छा सपना आये, वही उस लड्डू का अधिकारी हो।

तीनों सो गये। करीब दो घंटे बाद तीनों उठे। सबसे पहले ब्राह्मण ने कहा, "मुझे इतना अच्छा स्वप्न आया है कि इस लड्डू का अधिकारी मैं ही होऊंगा। बाकी दोनों ने कहा, "अच्छी बात है, लेकिन पहले अपना स्वप्न सुनाओ तो सही।"

ब्राह्मण ने कहा, "मैं एक बड़े-से शहर में पहुंचा। वहां पर सायंकालीन संध्यापूजन से निवृत्त होकर बैठा ही था कि पास के घर से पांच-सात आदमी आये और बोले, कि हमारे साथ चलो, तुम्हारा विवाह करेंगे। मैंने कहा कि बात क्या है, तो उन्होंने बताया कि यह सामने ही बड़ी-सी हवेली है, वह राज-गुरु की है। उनकी लड़की का विवाह आज ही राज-

१. एक व्यंजन-विशेष

कन्या के समान धूमधाम से होने वाला था। वारात आई तो पता चला कि दूल्हा काना है। सगाई के समय दूसरा लड़का दिखाया गया था और अब जब काना लड़का 'कंगन डोरे' वांधे हुए सामने आया, तो राजगुरु लाल-पीले हो गये। उन्होंने राजा की सहायता से वर-समेत सारी वारात को धक्का देकर शहर के वाहर निकाल दिया। चूंकि 'तेल-वान चढ़ी' हुई लड़की कुंआरी नहीं रह सकती, इसलिए हमें हुक्म हुआ है कि जो भी एक सुन्दर और सुसंस्कृत युवक मिले, उसे ही ले आओ। उसके साथ ही बाई का विवाह कर देंगे। हमारे ध्यान में इस काम के लिए तुम सर्वथा योग्य व्यक्ति जंचे हो, अतः हमने यह तय किया है कि वाई का विवाह तुम्हारे साथ किया जाय। अब तुम हमारे साथ चलो।

"मैं उनके साथ हो लिया और मेरा विवाह उस लड़की के साथ खूब धूमधाम और गीत-नातों के वीच सम्पन्न हुआ। सुन्दर और सुशील पत्नी मिली और साथ ही बहुत बड़ा दहेज भी। राज-गुरु की कन्या के साथ विवाह होने के कारण मुझे राज-सम्मान भी मिला। कहो, बहुत अच्छा स्वप्न है न?"

इतना सुनकर क्षत्रिय ने कहा, "है तो सुन्दर, पर मेरा स्वप्न इससे अधिक सुन्दर है।" यह कहकर उसने भी ब्राह्मण की तरह ही कभी न आया हुआ सपना सुनाना शुरू किया।

वह वोला, "मैं चलते-चलते एक नगर में पहुंचा। वहां के राजा का निस्संतान देहांत हो गया था। उस राज्य में यह परिपाटी थी कि अगर राजा विना संतान मर जाय तो जगह-जगह ढिंढोरा पिटवाकर इस वात की खबर दे दी जाय और बहुत सारे लोग वारहवें दिन इकट्ठे हो जायं। उसके वाद एक हथिनी को उसकी सूंड़ में फूलमाला देकर घुमाया जाय और वह जिसके गले में माला डाल दे, वही राजा हो।

"संयोगवश मैं जिस दिन उस नगर में पहुंचा, वह राजा की मृत्यु का वारहवां दिन था। वहां पर बहुत बड़ी भीड़ देखकर मैं भी डरता और सकुचाता-सा कौतूहलवश भीड़ के पीछे की ओर यह देखने के लिए खड़ा हो गया कि इतनी बड़ी भीड़ क्यों इकट्ठी हुई है। मैं बहुत देर तक चुपचाप खड़ा रहा। फिर डरते-डरते एक आदमी से पूछा तो उसने सारी हकीकत

बताई।

पता नहीं, उस हथिनी को क्या सूझा कि वह सारी भीड़ का चक्कर देती और उसे चीरती हुई मेरे पास पहुंची और वह फूलमाला मेरे गले में डाल दी। फूलमाला मेरे गले में पड़ते ही भीड़ ने 'महाराजा की जय!' 'महाराजा की जय!' के गगन-भेदी नारे लगाये। मैं एक बार तो हक्का-बक्का रह गया और समझ ही न सका कि यह सब कैसे और क्या हो गया। लेकिन फिर तुरन्त ही संभला और अपने भाग्य को सराहा। मुझे हाथी पर चढ़ाकर गाजे-बाजे-सहित एक जुलूस निकाला गया और लोगों ने ले जाकर मुझे राजगद्दी पर बैठा दिया। इक्यावन तोपों की सलामी के साथ मेरा राज-तिलक हुआ और इस तरह मैं बहुत बड़े राज्य का स्वामी बन गया।"

इतना कहकर वह क्षत्रिय युवक ब्राह्मण की ओर देखकर बोला, "कहो, मेरा स्वप्न तुम्हारेवाले से अच्छा है न ?" ब्राह्मण ने स्वीकार किया।

अब जाट की बारी थी। ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ही जाट की ओर मुखातिब होकर बोले, "तुम भी अपना स्वप्न सुनाओ !"

जाट ने कहा "क्या सुनाऊं! मुझे तो इतना बुरा और भयावना स्वप्न आया कि कहते हुए शर्म तो आती ही है, डर भी लगता है। मुझे तो स्वप्न में एक भूत दीख पड़ा और उसने कहा कि जल्दी उठ और पड़े हुए लड्डू को खा।

"मैंने कहा, 'कैसी बातें करते हो ? हम तीनों मित्र हैं और अमुक शर्त लगाकर सोये हैं।' इसपर भूत ने कहा कि शर्त-वर्त तो मैं कुछ जानता नहीं, या तो तू इस लड्डू को खा, नहीं तो मैं तुझे खाऊंगा। मैं तो बहुत डर गया और अनिच्छापूर्वक मुझे वह लड्डू खा लेना पड़ा।"

दोनों दोस्तों ने खीझकर कहा, "जब भूत आया, तो तुमने हमको पुकारा क्यों नहीं ? जगाया क्यों नहीं ?"

जाट ने कहा, "पुकारा तो सही और बहुत पुकारा, लेकिन एक के तो 'बनड़े' के गीत गाये जा रहे थे और दूसरे के राज्याभिषेक की तैयारियां हो रही थीं, बाजे बज रहे थे, तोपें दागी जा रही थीं। इतने शोरगुल, हो-हल्ले, कोलाहल और तोपों की गड़गड़ाहट के बीच मेरे-जैसे की क्षीण आवाज तुम्हें सुनाई भी कैसे पड़ती ?"

दोनों मित्रों ने जाट की वुद्धि के सामने हार मान ली । कहावत भी है—'नट विद्या आज्या, जट विद्या कोनी आवै।' 'अनपढ़ जाट पढ़े वरावर, पढ्या जाट खुदा वरावर।'

६६ ||||| चरणों का प्रसाद

एक कंजूस आदमी था। उसके घर में एक लड़का जन्मा, तो मित्र लोग उसके पीछे पड़ गये कि मुंह मीठा कराना पड़ेगा।

कुछ दिन तो वह टालता रहा, पर जव दोस्तों ने किसी भी तरह पिंड नहीं छोड़ा तो उसने कह दिया, "अच्छी वात है, परसों आप लोग मेरे घर आ जाना। गांठ पक्की रही।"

जव सव लोग निश्चित दिन खाने पर आ गये तो उनको अच्छी तरह खाना परोसकर वह सूम खुद हवा करने लगा। भोजन की सामग्री वहुत अच्छी थी, सो लोगों ने वहुत सराही, लेकिन वह कंजूस तो वार-वार यही कहता रहा, "सव आपके ही चरणों का प्रसाद है। वन्दे की तो हवा-ही-हवा है।"

इस वीच कंजूस का भाई सारे आगन्तुकों की जूतियां उठाकर हलवाई के यहां रख आया और कह आया, "आज आपके यहां से जितना सामान मंगाया है, उसके पेटे में जूतियां गिरवी रखे जाता हूं। अगर कोई मांगने आये, तो उससे पैसे लेते जाना और जूतियां उसके हवाले करते जाना।"

जव भोजन समाप्त हो गया और सारे लोग एक-स्वर से वोले कि खाना तो क्या ही अच्छा वना था, तो सूम ने फिर कह दिया, "आपके चरणों का प्रसाद है!"

उस वक्त तो सूम की मर्म-भरी वाणी का अर्थ कोई समझा नहीं, लेकिन जव आगन्तुक लोग घर जाने के लिए अपनी-अपनी जूतियां खोजने लगे तो उनको यह देखकर आश्चर्य हुआ कि किसी के भी जूते वहां मौजूद नहीं हैं।

उन्होंने जब सूम से पूछा कि हमारे यह जूते क्या हुए, तो सूम ने कहा, "मैं बार-बार आपको कह रहा था न, कि आपके ही चरणों का प्रसाद है; बन्दे की तो हवा-ही-हवा है। आप लोगों में से कोई भी समझा नहीं तो मैं क्या करूं ? जूतियां हलवाई के यहां गिरवी पड़ी हैं। अपने-अपने पैसे देते जाइये और छुड़ाकर लेते जाइये।"

आगन्तुक बेचारे क्या करते ! पैसे दे-देकर हलवाई के यहां से जूतियां लेते हुए और सूम की चालाकी को सराहते हुए अपने-अपने घर गये।

६७ 'क्या बेटी को, फेरा मां का'[1]

उपर्युक्त वाक्य राजस्थान में कहावत के रूप में चलता है। इसके पीछे जो कहानी है, वह इस प्रकार है :

दो जवान लड़के, एक ब्राह्मण और एक जाट, आपस में मित्र थे। दोनों का पास-पास ही घर था। एक दिन की बात कि दोनों दोस्त दसेक कोस दूर के एक कस्बे में मेला देखने गये। लौटकर आती दफे रास्ते में उनके ऊंट की नकेल टूट गई, तो जाट लड़के ने सहज भाव से ब्राह्मण से उसके 'जनेऊ' की तरफ इशारा करते हुए कहा, "यार, तुम्हारे गले में जो यह रस्सी का टुकड़ा पड़ा है, इसे ज़रा मुझे देना, ताकि इस टूटी हुई नकेल को जोड़ लूं।"

ब्राह्मण गुस्सा होते हुए बोला, "मालूम होता है, तुम निपट गंवार हो। जनेऊ भी कभी इस तरह के काम में आती है ? यह तो बहुत पवित्र धागे से बनी है। हवन और मंत्रों के बीच गुरु इसे धारण कराता है। इसे धारण करने के बाद मनुष्य को 'ॐ अपवित्रः पवित्रो वा' मंत्र के साथ त्रिकाल-संध्या करनी पड़ती है। 'ॐ भूर्भुवः स्वः' के साथ गायत्री मंत्र का जाप

१. 'बेटी का विवाह और मां के फेरे'।

करना पड़ता है। जव जनेऊ वदलना होता है तव 'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं' मंत्र के साथ वदलना पड़ता है और पुराना जनेऊ पीपल के पेड़ के नीचे ले जाकर 'पधराणा' पड़ता है। जिस जनेऊ का इतना महातम है उसे तुम ऊंट की नकेल जोड़ने के काम में लेना चाहते हो ! कितने शर्म और वेहूदगी की वात है यह ! इस तरह के वचन तो कहने-सुनने में भी पाप लगे। मुझे पता नहीं था कि तुम इतने गंवार हो।"

जाट कुछ समझा नहीं कि उसका दोस्त यह सव क्या अंट-शंट वक गया है, लेकिन वह इतना अवश्य समझ गया कि ब्राह्मण उसे जनेऊ देना नहीं चाहता है। इसलिए उसने इतना ही कहा, "मेरे दोस्त, इसमें नाराज़ होने की क्या वात है ? मुझे ज़रा-सी रस्सी की जरूरत थी और चूंकि मैंने वह तुम्हारे गले में पड़ी हुई देखी सो मांग ली। अव तुम नहीं देना चाहते हो तो मत दो, नाराज़ क्यों होते हो ?"

इतना कहकर जाट ने ऊंट को आगे हांक दिया। टूटी हुई नकेल के कारण उसे ऊंट को चलाने में तकलीफ तो हुई, लेकिन किसी तरह दोनों जने सकुशल अपने गांव तक पहुंच गये।

घर जाकर जाट लड़के ने अपने वाप से कहा, "यह ब्राह्मण का लड़का, जो अपना पड़ोसी है और मेरा दोस्त भी कहलाता है, विल्कुल ही अच्छा आदमी नहीं है।"

जाट ने पूछा, "क्यों, क्या हुआ ?"

तव उसके वेटे ने सारी कथा सुनाई।

सुनकर जाट ने कहा, "वेटा ! इसका वाप भी ऐसा ही है। एक दिन मेरा उससे काम पड़ चुका है। ये लोग किसी के काम आने वाले आदमी नहीं। ये ही क्यों, ब्राह्मण-जाया कभी किसीके काम नहीं आता। ये लोग तो किसी का काम विगाड़ भले ही दें। इसीलिए तो कहावत प्रचलित है—'काल वागड़[1] से नीपजे, वुरो वामण से होय'।"

वेटे ने पूछा, "आपका क्या काम पड़ा था ?"

वाप ने वताया, "तुम्हारी वहिन का विवाह था। वारात आई हुई थी,

१. एक प्रदेश, जहां वर्षा वहुत कम होती है।

सारे नेगचार हो चुके थे कि एकाएक तुम्हारी वहिन को जोरों का बुखार आ गया। तव मैंने जाकर इस लड़के के वाप से कहा था कि मेरी वेटी को बुखार आ गया है। ज़रा तुम अपनी कन्या को दो घंटे के लिए दे दो, तो वह फेरों का काम सधा आवे। कल विदाई के वक्त मेरी लड़की ठीक हो जायगी; तव विदा उसे करा दूंगा। तुम्हारा कुछ विगड़ेगा नहीं और मेरा काम हो जायगा। लेकिन वह ब्राह्मण इतने-से काम के लिए भी नट गया था।"

तव जाट के लड़के ने पूछा, "तो वावा, फिर तुमने क्या किया ? कैसे काम निकाला ?"

जाट ने कहा, "किसी तरह काम तो निकालना ही था, लड़की की जगह फेरों में तुम्हारी मां को विठाके काम चलाया और दूसरे दिन लड़की ठीक हो गई, तव विदा उसे कर दिया। और इस तरह अपनी वात वनी रह गई, नहीं तो उस ब्राह्मण के भरोसे तो सारा गुड़-गोवर हो जाता।"

६८ ||||| अक्कल जाट की

दो मित्र थे—एक जाट और एक मियां। आस-पास के गांवों में रहते थे। जाट अक्सर मियां के गांव जाया करता था। एक दिन वह मियां के घर पहुंचा। उस वक्त मियांजी घर पर नहीं थे। उनकी वीवी से पूछा तो मालूम हुआ कि आज जुम्मा का दिन है, इसलिए मौलवीसाहव के पास कुरान-शरीफ की कथा सुनने मस्जिद गये हैं। कुछ देर तो जाट वहां ठहरा, फिर वह भी जा पहुंचा मस्जिद में। वहांपर मौलवीजी की कथा चल रही थी। लोग ध्यानपूर्वक सुन रहे थे। जाट वहां पहुंचकर सबसे पिछली पंक्ति में खड़ा हो गया। मौलवी ने खुदा के वारे वयान करते हुए कहा, "खुदा की खुदाई को कोई नहीं जानता।"

कथा पूरी होने पर मौलवीसाहव की आंख उस दूर खड़े हुए जाट पर

पड़ी तो पूछा, "भाई, तुम कौन हो और कहां से आये हो ?"

जाट ने उत्तर दिया, "हुजूर के सामने ही मियां जलालुद्दीन बैठे हैं, उनका मैं दोस्त हूं। पास ही एक गांव में रहता हूं। आपकी कथा बहुत मीठी लगी, पर गुस्ताखी माफ हो, तो एक अर्ज करना चाहता हूं।"

मौलवीजी ने कहा, "हां-हां, शौक से कहो।"

जाट ने कहा, "हुजूर ने अभी फरमाया कि खुदा की खुदाई कोई नहीं जानता, सो ऐसी बात तो नहीं है, मैं जानता हूं।"

मौलवीजी ने कहा, "तुम भी कैसी बहकी-बहकी बातें करते हो ? हम लोग पांच वक्त नमाज पढ़नेवाले, रोज़ा रखनेवाले और रोज कुरान शरीफ का पाठ करनेवाले तो जानते नहीं, तुम कहां से जानने लगे ?"

जाट ने कहा, "हुजूर, शर्त बद लीजिये, मैं आपको साबित करके बतला दूंगा।"

मौलवी ने सोचा, भोला पंछी है। जाल में फंस गया है। यह गंवार आदमी खुदा की खुदाई को क्या जानेगा !

यह सोचकर तुरन्त एक सौ रुपये की शर्त बद ली और पूछा, "चौधरी, तुम्हारा जामिन कौन है ?"

जाट ने कहा, "यही मेरा दोस्त, जो आपके सामने बैठा है।"

जलालुद्दीन ने खड़े होकर जाट को एक तरफ ले जाकर कहा, "यार, क्यों तुम मरते हो और क्यों मुझे मरवाते हो ! भला यह भी कोई शर्त हुई ! खुदा-जैसी हस्ती को आजतक किसीने नहीं पहचाना, तुम क्या पहचानोगे ! फिर भी तुम्हारे दिमाग पर भूत सवार हुआ है और तुम मरना ही चाहते हो तो मरो, मुझे क्यों फंसाते हो ?"

जाट ने कहा, "दोस्त, डरो मत, शर्त अपन जीतेंगे और पक्की-पक्की जीतेंगे। रही तुम्हारे मरने की बात, सो तुम्हें मालूम है कि मेरे घर पर एक जोड़ी बैल और दो ऊंट खड़े हैं। मैं शर्त हार जाऊं और रुपये न दूं, तो तुम मेरे ऊंट और बैल खोलकर ले आना।"

मियां मान गया और उसने मौलवीसाहब से कह दिया, "चौधरी रुपये न दे तो मैं जामिन।"

शर्त तय हो गई। जाट ने कहा, "हुजूर, चलिये मेरे साथ। मैं आपको

खुदा की खुदाई दिखाता हूं।"

आगे-आगे जाट चला और उसके पीछे-पीछे चले मौलवीसाहब, और फिर गांव के लोगों का एक बड़ा-सा हुजूम। जाट उनको गांव के बाहर ले गया, जहां एक नदी बहती थी। वहां जाकर नदी की तरफ इशारा करके उसने मौलवीसाहब से कहा, "हुजूर, यह खुदा की खुदाई है।"

मौलवी ने कहा, "क्या बकते हो?"

जाट ने कहा, "हुजूर, अगर यह नदी खुदा की खुदाई नहीं है, तो क्या आपने खुदाई है या आपके बाप-दादों ने खुदाई है, या बादशाह सलामत ने खुदाई है? अगर किसीने नहीं खुदाई, तो मानना पड़ेगा कि यह खुदा की खुदाई हुई है; या यों कहो कि 'खुदा की खुदाई' है।"

गांव के सारे लोगों ने कहा, "मौलवीसाहब, यह आदमी बात तो ठीक कहता है। यह नदी किसी व्यक्ति ने नहीं खोदी है, न किसीने खुदाई है, क्योंकि यह नदी किसी एक व्यक्ति विशेष की खोदी या खुदाई है नहीं, अत: मानना पड़ेगा कि यह खुदा की खुदाई है।"

गांव के लोगों ने एकमत से जाट की बात की पुष्टि की तो मौलवी-साहब ने कुछ उज्र-आपत्ति करना ठीक नहीं समझा और चुपचाप एक सौ रुपये निकालकर उस जाट को दे दिये!

जाट ने वे रुपये अपने दोस्त को संभला दिये, अमानत के तौर पर।

एक-दो सप्ताह बीच में देकर जाट फिर पहुंचा जुम्मा के दिन—उसी मस्जिद में और उसी समय पर। मौलवीसाहब आदेश-उपदेश दे रहे थे। बीच में उनके मुंह से एक वाक्य निकला, "किसीके मन की बात कोई नहीं जानता।"

उपदेश खतम हुआ और मौलवीसाहब की आंखें उस चौधरी की तरफ उठीं, तो मौलवीसाहब ने कहा, "अच्छा, आज तुम फिर आये हो?"

जाट ने कहा, "हुजूर की कथा इतनी प्यारी लगती है कि बार-बार आने को मन करता है, लेकिन बीच-बीच में घर-गृहस्थी के झंझटों की वजह कभी नहीं आ पाता। हुजूर की कथा क्या होती है, सुननेवाले के कानों में अमृत की वर्षा होती है!"

मौलवीसाहब अपनी तारीफ सुनकर खुश हो गये। फिर जाट बोला

बोला, "हुजूर, आज मुझे एक बात फिर कहनी है।"

मौलवी ने कहा, "कहो, क्या कहना चाहते हो ?"

जाट बोला, "हुजूर ने फरमाया अभी कि किसीके मन की बात कोई नहीं जानता, सो सही नहीं है, क्योंकि हुजूर के मन की बात मैं जानता हूं। चाहें तो आप शर्त बद लें।"

मौलवीजी ने सोचा, "इस बार अच्छा मौका है। पहली बार अपन ठगा गए थे, उसका बदला लेना चाहिए, क्योंकि अव्वल तो मेरे मन की बात यह जान ही कैसे सकता है ? और फिर अगर जान भी गया तो अपन इन्कार कर देंगे कि हमारे मन में यह बात नहीं थी। इसलिए इस बार कसकर शर्त बदनी चाहिए।"

यह सोचकर मौलवीसाहब ने कहा, "अच्छा चौधरी, चलो, चार-चार सौ रुपये की शर्त रही।"

जाट ने कहा, "अच्छी बात है !"

शर्त पक्की हो गई तो मौलवीसाहब ने जमानत की बात उठाई। जाट ने झट अपने दोस्त मियां जलालुद्दीन का नाम रखा। जलालुद्दीन खड़ा हुआ और अपने दोस्त जाट को एकान्त में ले जाकर बोला, "चार सौ रुपये की जमानत तो बड़ी हो जायगी। कहीं मैं मारा न जाऊं ?"

जाट ने कहा, "दोस्त, डरो मत। तुम्हारा यह मौलवी तो है बुद्धू। यह हारेगा और अपन जीतेंगे। मेरे एक सौ रुपये तुम्हारे पास पड़े ही हैं। तीन सौ रुपये की बात रहती है, सो बैल और ऊंटों के अलावा मेरा खेत भी तुम अपने गिरवी मान लो।" मियां ज़मानत देने को राज़ी हो गया।

फिर जाट ने कहा, "हुजूर, सुनिये। अब मैं आपके मन की बात बताता हूं। आपके मन में हमेशा खुदा का नाम बसता है। आप बादशाह सलामत की खैरियत मनाते रहते हैं तथा प्रजा के सारे लोगों के लिए अपने ही बच्चों-जैसा प्यार आपके मन में बसा हुआ है। आपके दिल में हमेशा नेकी रहती है।"

यह कहकर जाट चुप हो गया और सुनकर मौलवीसाहब सन्न रह गये। अगर वे कहते हैं मेरे मन में ये बातें नहीं रहतीं, तो लोगों के सामने

वह दंभी, पाखंडी ठहर जाते हैं और बादशाह सलामत का डर अलग। इसलिए जाट को चारसौ रुपये देना ही ठीक समझा और झट कह दिया, "चौधरी, तुम ठीक कहते हो। मेरे मन में हमेशा खुदा बसता है और मैं लोगों की भलाई चाहता रहता हूं।"

जाट अपने दोनों दफे के मिलाकर पांचसौ रुपये घर ले आया।

कुछ दिनों का फासला देकर एक दिन फिर जुम्मा के दिन जाट वहीं मस्जिद में नमाज के समय जा धमका। नमाज के बाद कुरान की कथा हुई तो कथा के दौरान मौलवीसाहब ने कहा, "फलां दिन कयामत होगी।"

कथा पूरी होने पर मौलवीसाहब ने जब जाट को अपने सामने खड़े देखा तो कहा, "जट्ट, आज तुम फिर आ गये ?"

जाट ने कहा, "हां, हुजूर, आ तो गया, लेकिन आज फिर मुझे आपकी कथा के बारे में शंका हुई है। आपने अभी यह फरमाया है कि फलां दिन कयामत होगी। मैं कहता हूं कि नहीं होगी। आप चाहें तो मैं शर्त बदने को तैयार हूं।"

मौलवीजी ने सोचा, 'दो बार तो अपन इससे ठगा गए, लेकिन इस बार जरूर जीतेंगे, क्योंकि धर्मग्रन्थों में लिखी हुई बात झूठी कैसे हो सकती है। पांचसौ रुपये यह आदमी अपनेसे ठगकर ले गया है, या यों कहो कि अपने को बुद्धू बनाकर ले गया है। इस बार हजार रुपये की शर्त बदनी चाहिए, जिससे कि पांचसौ रुपये तो अपने गए हुए वापस आ जायं और पांचसौ रुपये की चपत इस जाट को पड़े।'

इस तरह सोचकर मौलवीसाहब ने तुरन्त एक हजार रुपये की शर्त रख ली। जमानत की बात आई, तो जाट ने फिर अपने उसी दोस्त जलालुद्दीन का नाम रखा।

जलालुद्दीन ने जाट को अलग ले जाकर कहा, "एक हजार रुपये की शर्त तो तुम्हारे लिए भी बड़ी है और इतने रुपये की जमानत मेरे लिए भी बड़ी है।"

जाट ने हँसकर उसके कान में कहा, "डरते क्यों हो, अगर कयामत हुई तो तुम भी मर जाओगे, मैं भी मर जाऊंगा और यह मौलवी भी मर

जायगा। न कोई रुपया मांगनेवाला रहेगा, न देनेवाला और न जमानत-वाला। अगर कयामत नहीं हुई, तो मौलवी से एक हजार रुपये ऐंठ लेंगे। इस सौदे में तो अपने लिए डरने की कोई बात ही नहीं है। तुम्हारा यह मौलवी पूरा भोंदू है।"

मियां की समझ में यह बात आ गई और उसने 'हां' भर ली।

कयामत का दिन बीत गया, तो दूसरे दिन जाट आ धमका, अपने रुपये वसूल करने के लिए। मौलवीसाहब ने चुपचाप रुपये गिन दिये। जाट रुपये लेकर घर जाने लगा। रास्ते में अपने दोस्त के घर थोड़ी देर ठहर गया। उसने मियां से कहा, "देखो, मैंने मौलवीजी से कुल पन्द्रह सौ रुपये जीते हैं। ये रुपये अपनेको आधे-आधे बांटने चाहिए, क्योंकि अक्ल मेरी थी और जमानत तुम्हारी। दो में से एक न होती, तो अपने को ये रुपये नहीं मिलते। इसलिए तुम अपने हिस्से के साढ़े सात सौ रुपये रख लो।"

पहले तो मियां ने 'हांकड़-नांकड़'[1] की, लेकिन फिर जाट ने बहुत ज़िद की और कहा, "तुम अपने लिए न रखो, तो मेरी भाभी को इन रुपयों का एक जेवर बना देना, जिससे कि तुम्हारे घर में अपन लोगों की दोस्ती की सदा के लिए एक यादगार रह जाय।" ऐसा कहकर साढ़े सातसौ रुपये मियां के हाथ में जोर-जबरदस्ती थमा दिये, तो मियां मान गया। रुपये थमाकर वह जाट अपने घर वापस चला आया।

जाट की बुद्धिमत्ता के लिए राजस्थानी में एक मजेदार कहावत चालू है— 'अनपढ़ जाट पढ़े बराबर, पढ्यो जाट खुदा बराबर'। दूसरी कहावत है— 'जट विद्या कोनी आवै'।

जाट की चतुराई के लिए एक और छोटी-सी कहानी है, जिसे यहां देना समीचीन होगा :

एक राजा के यहां दरबार लगा हुआ था। राजा ने दरबार के सामने यह प्रश्न रखा कि धरती का बीच कहां है ? किसी से कुछ उत्तर देते नहीं बना, तब वहीं बैठे हुए एक जाट ने खड़े होकर अपनी लाठी धरती पर टेकी

१. आनाकानी।

और कहा, "महाराज, यह है धरती का बीच !"

राजा ने कहा, "इसका क्या प्रमाण है ?"

जाट ने उत्तर दिया, "महाराज, प्रमाण चाहिए, तो आप माप करा लीजिये ।"

यह उत्तर सुनकर राजा ने जाट से कहा, "जाट, तुम होशियार तो बहुत हो, लेकिन एक प्रश्न और है। ज़रा बताओ तो, आकाश में तारे कितने हैं ?"

जाट का उत्तर था, "गाय के शरीर में जितने रोयें हैं उतने। अगर आपको इसमें कोई शुबहा-शंका हो तो गिनवाकर देख लीजिये।"

राजा और दरबार के सारे लोगों को हँसी आ गई और वे लोट-पोट हो गये।

६९ ‘मैं मावड़ी जद तो जी लियो पूत खसमड़ा’[1]

एक चमार था। उसको कई दिनों से बुखार आ रहा था। जैसा कि अक्सर छोटे गांव के अनपढ़ लोग होते हैं, उसी तरह इस चमार के घर-वाले भी बहुत अंधविश्वासी थे। अतः रोगी को डाक्टर-वैद्य को न दिखा-कर, कोई दवा-दारू न दिलाकर उन्होंने झाड़े-झपाटे का सहारा ले रखा था। वे कभी ‘आखा’ दिखाते तो कभी मन्दिर की आरती का पानी ला कर रोगी को पिलाते, कभी किसी स्याणे-ओझे की बुलाहट की जाती तो कभी भूत-प्रेत निकालनेवाले को याद किया जाता।

लेकिन भला ऐसा करने से कोई रोगी ठीक थोड़े ही होता है ? ‘मर्ज बढ़ता ही गया ज्यों-ज्यों दवा की।’ बुखार तेज़ होने और शरीर में

१. यदि मैं ही मां हूं तबतो जी लिये मेरे पतिदेव, जोकि अपने को मेरा पूत कहते हैं।

दर्द अधिक होने के कारण वह चमार चिल्लाता बहुत था। होते-होते रोगी की दशा अधिक बिगड़ने लगी। सन्निपात हो गया और वह प्रलाप करने लगा। रोगी की दशा तो बिगड़ती जा रही थी, लेकिन घरवालों के अंधविश्वास में कोई फर्क न पड़ने कारण ओझा लोगों की और पीर की ठग-विद्या में कोई फर्क नहीं आया था।

धीरे-धीरे रोगी का ज्ञान लुप्त हो गया और वह अपने-पराये को पहचानने से रह गया। तब एक दिन उसकी पत्नी उससे बोली, "आप मुझे पहचानते हैं क्या ? ज़रा बताइये, मैं कौन हूं ?"

चमार ने चट कह दिया, "तू है मेरी मावड़ी।"

दुःख का समय होने पर भी चमारिन को ज़रा हंसी आ गई और उसके मुंह से यह वाक्य निकल गया, "मैं ई मावड़ी जद तो जी लियो पूत खसमड़ा।"

उस दिन से वह वाक्य कहावत के रूप में चल पड़ा, जो कि आज भी उतना ही प्रचलित है।

इसीके समानार्थी दूसरी भी कई कहावतें हैं, जिनमें से दो-एक यहां दी जाती हैं। जैसे, 'रेवड़ में कुण गयो कै गीधो—रोवो क्यूं ना बाई रोज पड्यो सीदो' याने गीधा इतना असावधान आदमी है कि रेवड़ की भेड़-बकरियों को वह संभाल नहीं सकेगा। वे इधर-उधर भाग जायंगी या उन्हें कोई उठा ले जायगा। पूरा रेवड़ गीधे के भरोसे तो घर लौटने से रहा। दूसरी है, 'यो ई जवाई जद तो खिला लिया दोयता।'

७० खीर का भोजन और चौबेजी

एक चौबेजी महाराज पूरे भोजन-भट्ट थे। पितृपक्ष के दिनों में तीन-तीन घरों का निमंत्रण स्वीकार कर लेते थे और वह इसलिए कि एक तो दक्षिणा तीन गुणी मिल जायगी, दूसरे यह लोभ भी रहता था कि

किसी घर में भोजन कैसा बने और किसी में कैसा। वह खीर के बेहद शौकीन थे।

एक बार की बात कि एक जजमान ने उन्हें इस शर्त पर निमन्त्रण दिया यदि कि वह उस दिन और कहीं भोजन करने नहीं जायंगे, तो उन्हें तीन गुनी दक्षिणा दी जायगी।

भोजन के समय चौवेजी जजमान के यहाँ पधारे और छककर भोजन किया। दक्षिणा लेकर अपने घर जाने लगे, तब जजमान ने एक बार फिर पूछ लिया, "महाराज, अच्छी तरह भोजन कर लिया है न? पेट में जगह तो नहीं है? कसर हो और इच्छा हो तो और खा लीजिये। इसके अलावा सायंकाल को भी भूख लगे तो फिर यहीं आकर खा लीजिये, लेकिन आज दिन-भर किसी दूसरे के यहाँ भोजन नहीं कर सकेंगे, यह शर्त मैं आपको फिर याद दिला देता हूँ।"

चौवेजी ने जजमान की जय-जयकार की और बोले, "पेट में एक दाना रखने की भी जगह नहीं है। आपने दूसरे के घर भोजन करने की बात भली कही!"

ऐसा कहकर अपनी तोंद पर हाथ फेरते हुए अपने घर की ओर विदा हुए। घर पहुंचे ही होंगे कि एक दूसरा जजमान वहां आ पहुंचा और बोला, "चौवेजी, खीर-जलेबी की रसोई बनाई है और पूरा एक रुपया दक्षिणा का दूंगा। चलकर मेरे यहाँ भोजन कर लीजिये।"

चौवेजी के मुंह में पानी भर आया और पहले खाया हुआ भोजन पचाने के लिए डकार लेते हुए उसके साथ हो लिये। चारों तरफ नजर दौड़ाकर यह देखते हुए कि कहीं पहला जजमान देख तो नहीं रहा है, वह चोर की तरह चुपचाप चलने लगे। चलते-चलते दूसरे जजमान के यहां पहुँच गए और फिर वहाँ कसकर भोजन किया और दक्षिणा का एक रुपया लेकर अपने घर की ओर मुंह किया।

थोड़ी ही दूर गये होंगे कि संयोग से पहला जजमान मिल गया और वह सारी बात भांप गया। उसने कहा, "आपने शर्त का उल्लंघन किया है। आपने कहा था कि पेट में एक दाना रखने की जगह नहीं है, तो फिर से भोजन करने की जगह कहाँ से आ गई?"

चौवेजी ने दांत निपोरते हुए कहा, "मेरे भैया, ज़रा सुनो। ज़रा कल्पना करो कि एक जगह बहुत वड़ी भीड़ जमा हो रही है। कहीं तिल रखने को भी जगह नहीं है। इतने में हाथी पर चढ़े हुए राजा की सवारी आती है तो भीड़ के सारे लोग कसमसाकर राजा की सवारी के लिए अपने-आप ही जगह कर देंगे। किसीको कहना नहीं पड़ेगा। तो मेरे भैया, यह खीर-जलेवी की रसोई तो राजा की सवारी है। तो इसके लिए पेट में जगह अपने-आप हो जाती है, करनी नहीं पड़ती। रही शर्त के उल्लंघन की बात, सो मैं तुम्हें वता देना चाहता हूं कि पितृपक्ष में भोजन के सम्बन्ध में कोई शर्त, कोई सौगंद, चौवे लोगों पर लागू नहीं हुआ करती।"

जजमान वेचारा अपना-सा मुँह लेकर वापस चला गया और चौवेजी महाराज तोंद पर हाथ फेरते हुए 'जय श्रीकृष्ण, जय श्रीकृष्ण' कहते हुए पास ही एक चवूतरे पर लेट गए, क्योंकि उनके लिए अव पैदल चलकर घर पहुंच सकना सम्भव नहीं रह गया था।

... ...

चौवे लोगों के वारे में एक मजाक भी प्रचलित है कि एक चौवेजी किसी जजमान यहां भोजन करने गये थे तो उनकी पत्नी ने अपनी वहू से यह कहा था कि एक पलंग विछा दो, तुम्हारे ससुर भोजन पर गये हैं, अतः आते ही उन्हें सोना पड़ेगा।

इस पर वहू ने अपना आश्चर्य प्रकट करते हुए उत्तर में कहा था कि आपके यहाँ यह कैसी रीति है! मेरे पीहर में तो जव कोई भोजन करने जाता है तो पलंग साथ ही ले जाता है।

... ...

इनसे कुछ मिलती-जुलती कुछ सच्ची घटनाएं भी यहां दी जाती हैं। कलकत्ता के वहुत ही नामी-गरामी वंगाली महाशय, जो वहाँ के विश्वविद्यालय के उपकुलपति थे, रसगुल्लों के वेहद शौकीन थे। वह अपने घर से अच्छी तरह भोजन करके यूनिवर्सिटी जाते, तो रास्ते में एक नामी रसगुल्लों के हलवाई की दुकान के पास ही अपनी गाड़ी से उतर पड़ते और वहां रसगुल्ले खाया करते। उनकी पुत्रवधू ने एक दिन यही सवाल उनसे पूछा था तो उन्होंने भी राजा की सवारी की ही मिसाल दी थी।

दूसरी मिसाल राजस्थान के सम्माननीय नेता की भी यहाँ दी जाती है। वह एक सर्वमान्य नेता हैं। हिन्दी, गुजराती और संस्कृत के अच्छे ज्ञाता हैं। अच्छे कवि भी हैं। उनकी सारी उम्र सार्वजनिक सेवा में बीती है। आज ७६-७७ वर्ष की उम्र में भी सर्वोदय के काम से अथक यात्रा करते हैं। लोगों के बहुत श्रद्धाभाजन हैं। खाने में वह जलेबी के बहुत शौकीन हैं। जलेबी को वह 'महारानी' कहा करते हैं और मानते हैं कि इसके लिए पेट में जगह की जरूरत नहीं पड़ती। अच्छी तरह डटकर भोजन किये हुए होने पर भी जलेबी के लिए वह कभी इन्कार नहीं करगे।

तीसरी एक और मिसाल है। गांधीजी जब गोलमेज परिषद में गये थे तो उनके एक गुजराती मित्र का लड़का उनसे मिलने आया था। गांधीजी ने उससे राजी-खुशी के समाचार पूछे तब उसने कहा था कि बापूजी, यों तो ठीक हूं; लेकिन यहाँ आने के बाद 'महारानी' के दर्शन नहीं हुए। अगर आप करा सकें तो अच्छा हो। बापूजी जानते थे कि वह लड़का जलेबी का बहुत शौकीन है और जलेबी को वह 'महारानी' कहा करता है, अतः वह खूब हँसे और उसके लिए जलेबी की व्यवस्था की।

७१ 'समजी'

एक सेठ ने एकबार राजाजी को अपने घर पर भोजन के लिए बुलाया था। साथ में दूसरे अनेक अमीर-उमराव और हाकिम-हुक्काम भी थे। भांति-भांति के सुस्वादु व्यंजन बने थे। सेठ के बेटे की बहू जीभ की चटोरी थी, अतः लुक-छिपकर आवश्यकता से अधिक खा गई। नतीजा यह हुआ कि उसे आधी रात के करीब शौच जाने की जरूरत पड़ी और वह लोटा लेकर जंगल गई। शर्म के मारे न तो उसने अपने पति को जगाया और न किसी नौकर को ही। जाती दफे हवेली के दरवाजे पर एक बड़ा और मजबूत ताला लगा गई, जिससे कोई चोर न घुस जाय।

शौच से उठी तो उसे एक चोर जंगल में ही मिल गया। उसने उसे धमकाते हुए कहा कि जो कुछ तेरे पास है, वह चुपचाप मुझे सौंप दे, नहीं तो यह लाठी तैयार है।

वहू चटोरी तो थी, लेकिन थी बुद्धिमती। इसलिए उसने साहस और संतुलन नहीं खोया और वच निकलने का सारा कार्यक्रम अपने मन में जमा लिया। फिर बोली, "सच्ची वात यह है कि मेरा पति बूढ़ा है और वह दिन-रात यह देखता रहता है कि मैं कहीं जाती तो नहीं, अथवा मेरे पास कोई आता तो नहीं। जहां स्त्री सुन्दर और जवान हो तथा पति बूढ़ा हो, वहां ऐसा होना स्वाभाविक है। सो पहरे में रहते-रहते और अनचाहे संन्यास से तंग आकर मैं घर से भागकर आई हुई हूं। तुम्हारे-जैसे सुन्दर जवान की ही तलाश में थी, जो मुझे सुखपूर्वक साथ रख ले और उमर भर निभाये। तुम क्या मिले, मुझे तो वरदान मिल गया है। अगर तुम्हें मंजूर हो तो एक दफे मेरे साथ मेरे घर तक चलो ताकि मैं अपना सारा गहना ले आऊं। गहना इतना है कि तीन पीढ़ियों तक खाये जाओ।"

लोभ के आंखें नहीं होतीं तथा लोभ को पाप का वाप माना गया है, उसके अनुसार चोर ने इस स्त्री की वात सच्ची मान ली और इस घटना के लिए भगवान को धन्यवाद दिया। फिर चोर ने तुरन्त कुछ अनुचित प्रस्ताव किया तो सेठ की पुत्रवधू ने कहा, "आज तो मुझे एका-दशी का व्रत है, इसलिए किसी पुरुष का स्पर्श भी हो जाय तो इक्कीस वार स्नान करना पड़े और फिर कल से तो सारी उमर साथ रहना ही है। आज-आज के लिए मैं माफी चाहती हूं।"

चोर पर तो मानो जादू हो गया था, इसलिए वह गहने और स्त्री का भूखा चुपचाप उसके पीछे हो लिया।

स्त्री ने हवेली पहुंचकर ताला खोला और चोर से बोली, "तुम यहीं खड़े रहो, मैं गहने लेकर अभी आई।" हवेली में जाकर उसने भीतर से दरवाजा बन्द कर लिया और चुपचाप सो गई। आती दफे रास्ते में चोर ने उस स्त्री से उसका नाम पूछ लिया था और उसने अपना नाम 'समजी' वताया था। आधा घंटा बीता, एक घंटा बीता,

और दो घंटे बीते, लेकिन स्त्री तो लौटकर नहीं आई सो नहीं ही आई। चोर ने धीरे-से पुकारा, "समजी, ओ समजी !"

भीतर से सेठ की पुत्रवधू ने कहा, "समजी रे वीरा समजी, घणू खाऊं न कुवेल्या जाऊं।"[1]

अब न तो समजी के लिए कुछ समझना बाकी था और न चोर के लिए। चोर इस बात से दुःखी होकर कि आया हुआ शिकार हाथ से निकल गया, अपने भाग्य को दोष देता हुआ और छाती पीटता हुआ अपने घर की तरफ लौट गया। शिकार हाथ से निकलने के अलावा उसके मन में इस बात की भी बहुत ग्लानि थी कि एक साधारण औरत उसे इस तरह बुद्धू बनाकर और चकमा देकर निकल गई, लेकिन 'अब पछताये होत का जब चिड़ियां चुग गईं खेत।' 'समय चूकि पुनि का पछताने ?'

७२ 'सूत न कपास, जुलाहे से लट्ठमलट्ठा'

एक चौधरी किसानी करता था। उसका कुटम्ब तो था बड़ा और खेती की जमीन उसके पास थी कम। खेती के अलावा वह कुछ हुनर जानता नहीं था। छोटा गांव होने के कारण वहां नौकरी या मजदूरी का कोई काम मिलता नहीं था। अतः घर में सदा दरिद्रता का साम्राज्य बना रहता था। राजस्थानी भाषा में कहें तो 'घर में चूहे कलाबत्ती खाया करते।'[2] चौधरी मुश्किल से दो जून रूखी-सूखी रोटी खाकर गुजर चलाता था। रोटियों के साथ किसी दिन दाल भी नसीब होजाती और

१. "न ज्यादा खाऊंगी, न बेवक्त (शौच के लिए) जाऊंगी।"
२. भूखे चूहे घर में लोट-पोट होते थे।

किसी दिन नहीं। जिस दिन घर में दाल न होती उस दिन नमक-मिर्च पीसकर उसे चटनी का नाम देते थे और उसीके साथ कुटम्ब के सारे लोग रोटियां गले के नीचे उतारते और ठण्डा पानी पीकर संतोष मानते थे।

लेकिन चौधराइन को संतोष नहीं होता था। उसे घी-दूध खाने का बेहद शौक था, पर वेचारी तरस-तरसकर ही रह जाती थी, क्योंकि जहां अनाज के ही लाले पड़े हों, वहां घी-दूध के तो दर्शन ही कहां! चौधराइन दूसरे किसी व्यक्ति को जब घी-दूध खाते देखती तो उसका कलेजा बैठ जाता और वह घर आकर अपने भाग्य पर घंटों रोया करती। चौधरी स्वयं बहुत संतोषी था और मानता था, अपने भाग्य में यही लिखा है। वह अपनी पत्नी को बहुत समझाया करता और कहा करता कि देखो, अपनी-अपनी तकदीर की बात है—'राई घटै न तिल बधै, बेमाता का लेख।'[1] सो व्यर्थ ही अपना मन दुःखी क्यों करती हो? 'देख पराई चूपड़ी मत ललचावै जी, रूखी-सूखी खायकर ठण्डो पानी पी।' लेकिन चौधराइन का मन नहीं मानता था।

होते-होते चौधरी का एक लड़का खासा जवान हो गया। भगवान चौधरी पर 'ठूठा।'[2] उसके लड़के को फौज में नौकरी मिल गई और वह गांव छोड़कर नौकरी करने फौज की छावनी में चला गया।

फौज की नौकरी में जितने रुपये महीने के मिलते थे, वे तीन महीने इकट्ठे करें तो एक अच्छी मोटी-ताजी भैंस खरीदी जा सके। अतः चौधराइन ने अपने पति से कहा, "देखिये, मेरा बेटा जितने रुपये भेजे, वे पूरे-के-पूरे मेरे हाथ में रख दिया कीजिए। तीन महीने पूरे होते-होते मैं एक अच्छी-सी भैंस खरीदूंगी और वर्षों की अपनी घी-दूध की तमन्ना पूरी करूंगी।"

चौधरी ने भी सोचा कि यह वेचारी ठीक ही कहती है। मैं तो विवाह करके लाया, उसके बाद एक दिन भी उसे मनचाहा भोजन नहीं दे सका। अब भगवान ने सुन ली है तो इसका मन रखना ही चाहिए।

१ विधाता ने जो दिया है उसमें न राई के जितना घटनेवाला है, न तिल के जितना बढ़नेवाला। २. रीझा।

दूसरे ही दिन से चौधराइन तो भैंस के सपने देखने लगी, दिन गिनने लगी और फूली-फूली फिरने लगी। एक महीना बीतते-बीतते चौधरी को अपने बेटे का भेजा हुआ मनीआर्डर मिला। उसने रुपये ज्यों-के-त्यों लेजाकर चौधराइन के हाथ पर रख दिये। वह तो निहाल हो गई और सोचने लगी कि एक महीना तो बीत गया, दो महीने योंही बात करते-करते और 'गुड़क' जायेंगे। अब तो भैंस आई ही समझो। उसे तो भैंस अपने आंगन में खड़ी दीखने लगी। बिना चिकनाई खाये ही चौधराइन के चेहरे पर चिकनाई आ गई। भैंस बांधने के लिए 'गुवाड़ी'[1] में ही एक तरफ 'खूंटा' भी रोप लिया और भैंस रखने के लिए जितना सामान चाहिए वह एक-एक करके खरीदने लगी, जैसे दूध दुहने के लिए 'धुवारी'[2] दही जमाने के लिए 'कढावणी', बिलोने के लिए 'बिलोवणी'[3]' 'झेरनी' और 'नेती'[4] आदि। सारा सामान इकट्ठा हो गया तब वह अपने पति से बोली, "देखिये, डेढ़ महीना तो बीत गया है, अब भैंस आने में देर नहीं है। अपने पड़ोसी रामू ब्राह्मण के यहां मैं एक भैंस देख आई हूं। वह पांच-सात दिन में ब्यानेवाली है, अपने पास रुपये इकट्ठे होंगे तबतक उस भैंस का दूध भी पीने लायक हो जायगा। मैं उसके साथ मोल-भाव भी कर आई हूं और वह भैंस अब अपनी ही समझो। यों गांव में और भी कई भैंसें मैंने देखी हैं, लेकिन मेरे को और कोई जंची नहीं।"

चौधरी ने कहा, "ठीक है, तुम्हें अच्छी लगे वही ले आना।"

दूसरे महीने के रुपये आये और चौधरी ने अपनी पत्नी को दिये, तब तो उसकी छाती फूल गई और हर्ष के आंसू छलछला आये। दस-पन्द्रह दिन और योंही बीत गये। अब तो उसे रात-भर भैंस के ही सपने आने लगे। कभी वह भैंस दुह रही है, कभी दही बिलो रही है, कभी चौधरी को रोटियों के साथ मलाईदार मोटा-मोटा दही परोस रही है, कभी स्वयं दूध पी रही है, कभी बच्चों को खूब घी से चुपड़ी हुई रोटियां दे रही है, कभी किसी आई हुई पड़ोसिन को छाछ घाल रही है, आदि-आदि।

१. कच्चा-पक्का मकान। २. दूध दुहने का बर्तन। ३. बिलोने का मिट्टी का बर्तन।
४. बिलोने के लिए रस्सी।

इतने में सवेरा हुआ। सवेरा होते ही उसने चौधरी से कहा, "देखो, अब तो भैंस आ ही गई समझो। महीना पूरा होने में पन्द्रह दिन ही रहते हैं। इसके बाद रामू पड़ोसी की भैंस अपनी हो जायगी! लेकिन मैं आपको पहले से कह देती हूं कि मैं थोड़ा-बहुत दूध-दही अपने भाई-भतीजों के लिए भी भेजा करूंगी।"

चौधरी ने कहा, "ऐसा नहीं हो सकता। तुम्हें मालूम है कि ये रुपये कितनी मुश्किल से आये हैं! बेटे को मौत के मुंह में भेजा है, तब तो ये रुपये आये हैं और एक तुम हो कि इस तरह दूध-दही लुटाने खड़ी हो गई!"

चौधराइन बोली, "बेटा तुम्हारा है तो मेरा भी है। मैं अपने पीहर-वालों के लिए दूध-दही भेजूंगी और अवश्य भेजूंगी। देखती हूं, आप किस तरह मना करते हैं या रोकते हैं! आपको जो करना हो सो कर लीजिये।"

चौधरी का पारा चढ़ गया। दोनों बद-बदकर लड़ने लगे। आखिर चौधरी ने कहा, "देखो, मैं अभी तुम्हें तुम्हारी ज़िद का और अपना घर लुटाने का मजा चखाता हूं।"

ऐसा कहकर उस चौधरी ने एक लट्ठ चौधराइन को जमा दिया। चौधराइन चिल्लाई तो आस-पास के घरों के लोग दौड़े आये। लोग पहुंचे, उसके पहले तो चौधरी ने दो-तीन लट्ठ और जमा दिये। पड़ोस के आदमियों ने चौधरी का हाथ पकड़ा और पूछा कि भले आदमी, बात क्या है कि तू इस बेचारी 'बीरबानी' को यों धुने जा रहा है, जैसे कोई रुई धुनता हो!

किसान ने कहा, "इस कुलच्छिनी ने मेरा सारा घर लुटा दिया। सारा दूध-दही अपने भाई-भतीजों को खिला दिया।"

पड़ोस के लोगों को आश्चर्य हुआ, हँसी भी आई। वे बोले, "भले-मानस, तेरे घर में था क्या, जो लुटा दिया? तुम दूध-दही की बात करते हो, लेकिन तुम्हारे घर में गाय-भैंस की तो बात ही क्या, बकरी भी नहीं है। फिर यह दूध-दही आया कहां से? बिना बादल वर्षा होती हमने तो कभी सुनी नहीं।"

चौधरी झेंप तो गया, लेकिन वह सहज में हार माननेवाला नहीं था और सो भी अपनी पत्नी के सामने। इसलिए फिर बोला, "गाय-भैंस है

नहीं तो क्या हुआ, एक भैंस का सौदा पक्का कर लिया है, इस महीने के अन्त तक वह हमारे घर आ जायगी। अब देरी भी क्या है ?''

लोगों को चौधरी और उसकी पत्नी के भोलेपन पर हँसी आ गई। चौधरी को ठण्डा करते हुए बोले, ''चौधरी, थोड़ा तो धीरज रख, भैंस घर पर तो आने दे, भैंस तो आई ही नहीं और लड़ने पहले ही लगा।''

अबतक चौधरी भी अपनी भूल समझ चुका था। लोग अपने-अपने घर चले गये और चौधरी शरमाता हुआ जाकर अपनी पत्नी के पास बैठा। अपनी भूल मानता हुआ क्षमा मांगने लगा और बोला कि भविष्य में वह ऐसा व्यवहार कभी नहीं करेगा। ऐसा व्यवहार तो क्या, कड़वी बात भी नहीं बोलेगा। वह हल्दी और गरम-गरम तेल लेकर जहां-जहां चौधराइन को चोट लगी थी, वहां-वहां सेंक करने लगा और स्वयं रोने लगा। चौध-राइन अपनी चोटें भूलकर अपनी ओढ़नी के पल्ले से चौधरी की आंखें पोंछने लगी।

उसके आंसू जो अबतक बन्द हो चुके थे, अब फिर शुरू हो गये। लेकिन फर्क यह था कि पहले आंसू दु:ख के, दर्द के थे, और इस बार सुख और स्नेह के। चौधराइन अपना सारा दर्द भूल गई और सुखपूर्वक चौधरी की गोद में सो गई, लेकिन बेचारी सो गई बिना दूध पिये ही।

७३ नहले पर दहला

दो भाई थे, उनमें एक विवाहित था। मां-बाप भगवान के घर सिधार चुके थे। दोनों भाई स्वभाव के सरल थे, लेकिन बड़े भाई की पत्नी का स्वभाव कुटिल था। वह बोलने में तो मीठी थी, लेकिन थी अत्यन्त स्वार्थी और चालाक। अतः उसके मन में यह पाप समाया कि देवर को ठगना चाहिए। यह सोचकर उसने एक दिन अपने देवर से कहा, ''देखो देवर, अपन अलग-अलग हो जायें तो ठीक रहेगा, क्योंकि ऐसा करने से

तुम्हारे ऊपर गृहस्थी का वोझ पड़ेगा तो तुम होशियार हो जाओगे।"

देवर ने अपने भोले स्वभाव के अनुसार कह दिया, "मैं तो हिस्से-पांती की वात कुछ भी समझता नहीं, तुम्हें ठीक लगे, वैसा ही कर दो।"

भाभी ने कहा, "तुम नहीं समझते तो क्या हुआ, ऊपर भगवान तो बैठा है। मैं तुम्हारे साथ अन्याय थोड़े ही होने दूंगी।" फिर उसने कहा, "देखो, अपने पास दो खेत हैं, एक पूरव दिशा में और दूसरा पश्चिम दिशा में। जमीन दोनों में बरावर है। पूरव दिशा वाला खेत तुम्हारा रहा और पश्चिम दिशा वाला मेरा। इसके अलावा घर में एक भैंस है और एक कम्वल। भैंस का आगे का हिस्सा तुम्हारा और पीछे का मेरा। कम्वल दिन में तुम्हारा और रात में मेरा।"

देवर वेचारा इतना भोला था कि वह भाभी की चालाकी-भरी मोटी-सी बात को भी नहीं समझ सका। उसने तो यही सोच लिया कि पांती बिल्कुल वरावर की हुई है। नतीजा यह हुआ कि देवर अपने खेत में काम करने के लिए जाये तो जाती दफे भी उसे सामने सूरज पड़े और आती दफे भी, क्योंकि खेत पूरव दिशा में था; भैंस को चराना तो देवर को पड़े और दुहे भाभी, क्योंकि अगला हिस्सा देवर की पाती में आया था और पीछा हिस्सा भाभी की; इसी तरह कम्वल का वोझ दिन में तो ढोये देवर और रात को ओढ़े भाभी।

कुछ ही दिनों वाद देवर को जरा अटपटा-अटपटा लगने लगा कि बात क्या है। न तो अपने को भैंस का दूध ही मिलता है और न ओढ़ने के लिए कम्वल ही। खेत में जाते-आते अपने को धूप मिलती है और भाभी को छाया। पांती बिल्कुल बरावर हुई थी तो नतीजा क्यों वरावर नहीं है? वह उदास-उदास रहने लगा।

एक दिन उसके एक मित्र ने उससे पूछा कि तुम आजकल उदास क्यों रहते हो, क्या वात है? मित्र के पूछने पर उसने घर के हिस्से-पांती की सारी हकीकत वताई। मित्र चालाकी में भाभी का भी गुरू था, सारी वात समझ गया और अपने मित्र को आश्वस्त करते हुए वोला, "मैं तुम्हें एक युक्ति वताता हूं। उसको काम में लेने से सारा मामला ठीक हो जायगा। तुम्हारे भोलेपन के कारण यह पांती अन्यायपूर्ण हुई है, लेकिन

खैर, जो पांती हो गई उसके लिए तुम्हें इन्कार भी नहीं करना पड़ेगा और सारा मामला दुरुस्त हो जायेगा।"

ऐसा कहकर उस मित्र ने कहा, "तुम एक काम करना कि शाम होते-होते कम्बल को तो भिगोकर रख देना और तुम्हारी भाभी दूध दुहे तो भैंस को सामने से जोर से पीछे की तरफ धकेलना। भाभी कुछ कहे तो तुम कह देना कि भाभी, कम्बल दिन में मेरा है, चाहे सो करूं; रात को हाथ लगाऊं तो तुम्हारा गुनहगार। उसी तरह भैंस के पीछे वाले हिस्से को तो मैंने हाथ लगाया नहीं, जो कि तुम्हारा है और सामने वाले हिस्से का मैं जो चाहे सो करूं, इसमें तुम्हें कुछ बोलने या आपत्ति उठाने का हक नहीं।"

देवर ने ऐसा ही किया। जब भाभी भैंस दुहने बैठी और दूध दुह चुकी, तब देवर ने भैंस के सींग पकड़कर उसे जोरों से पीछे की ओर धकेला। नतीजा यह हुआ कि दूध तो सारा ही ढुल गया, साथ ही भाभी की हड्डी-पसली भी ढीली हो गई। भाभी और भाई कुछ बोलें, इसके पहले तो देवर के पास अपने मित्र का रटाया हुआ उत्तर तैयार था। सुनकर दोनों चुप हो गये।

बड़े भाई ने अपनी पत्नी को भीतर ले जा कर उसके हल्दी-तेल का सेक किया और उसे ओढ़ाने के लिए कम्बल खोजा। जब कम्बल भीगा हुआ मिला तो अपने छोटे भाई से कहा कि तुमने यह क्या किया ? कम्बल भिगो क्यों दिया ? छोटे भाई के पास उत्तर तैयार था, "दिन के वक्त कम्बल मेरा है, जंचेगा सो करूंगा।"

बड़े भाई ने जाकर अपनी पत्नी को सारा हाल कहा तो वह बोली, "मैं सारी बात समझ गई हूं। यह बुद्धि या दुर्बुद्धि, जो भी कहो, तुम्हारे भाई की खुद की नहीं है। मैं उसे जानती हूं, जिसकी यह दी हुई है। मैंने जैसा किया था, वैसा ही फल पा लिया है। अब कल सुबह अपने भाई के उस मित्र को यहाँ बुलाओ तो घर फिर से बस सकेगा, नहीं तो उजड़ा ही समझो।"

दूसरे दिन सुबह उस मित्र को बुलाया गया। उसने आकर दोनों भाइयों की पांती फिर से कर दी तथा अपने मित्र को पिछले दिनों के लिए

क्षति-पूर्ति भी दिलाई। कैसे और क्या पांती की तथा क्या क्षति-पूर्ति दिलाई, इसका अनुमान पाठक लोग अपनी-अपनी बुद्धि से लगा लें।

७४ भोला जंवाई

एक लड़का था। वह अपने माता-पिता के साथ एक गांव में रहता था। उसके पिता का स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता था। लड़का कुछ पढ़ा-लिखा नहीं था तथा स्वभाव का बहुत ही भोला था। धनी होने के कारण लड़के का विवाह तो हो गया था, पर वह अभी घर पर नहीं आई थी। लड़के की माँ ने अपनी बहू को बुलाने के लिए कई बार समधी के यहाँ समाचार दिया, पर लड़की वाले बराबर इस जिद पर अड़े हुए थे कि लड़का स्वयं लेने आये तभी लड़की की विदा करेंगे। मां लड़के को भेजना नहीं चाहती थी, क्योंकि वह जानती थी कि ससुराल जाने पर बेटे की बुद्धिमता की सारी पोल खुल जायगी, लेकिन जब कोई चारा नहीं रहा, तब वह एक दिन अपने बेटे से बोली, "तुम ससुराल जाकर पत्नी को विदा करा लाओ।"

बेटे ने कहा, "माँ, मैं चला तो जाऊँगा, लेकिन मुझे तो बात करना ही नहीं आता। ससुराल वाले कुछ भी कहेंगे या पूछेंगे तब मैं जवाब कैसे और क्या दूंगा?"

माँ ने कहा, "बात ज्यादा मत करना, कुछ भी पूछें तो 'हाँ'-'ना' में उत्तर दे देना। मीठी बोली बोलना, ऊंचे आसन बैठना, इधर-उधर कुछ दीख पड़े तो उसके बारे में संक्षेप में बात कर लेना।"

माँ की सीख सुनकर बेटा शरमाता-सा, सकुचाता-सा ससुराल के लिए रवाना हुआ, क्योंकि बहू को लिवा लाना तो जरूरी था ही। ससुरालवालों ने उसकी अच्छी आवभगत की। लड़के को उसकी मां ने कह दिया था कि ज्यादा बात न करके हर प्रश्न का उत्तर 'हाँ' या 'ना' में दे

देना। इसलिए लड़के ने अपने मन में गांठ लगा ली कि ये लोग कुछ भी पूछें, उसका उत्तर एक दफा 'हां' और एक दफा 'ना' में देना है। लड़के के ससुर ने बात शुरू की, "कंवरसाहब, मजे में आ गये न ? रास्ते में कोई तकलीफ तो नहीं हुई।" लड़के ने 'हाँ' में उत्तर दिया।

अब दूसरा प्रश्न पूछा गया, "आपके पिताजी बीमार थे, वे ठीक हैं न ?" लड़के ने तुरन्त उत्तर दिया 'ना'। चूंकि पहली बार 'हां' कह दिया था तो इस बार 'ना' कहना आवश्यक था।

ससुरजी ने पूछा, "तो क्या वे चल बसे ?" लड़के ने झट कह दिया, 'हाँ'।

फिर प्रश्न हुआ, पिताजी का कारज वगैरा तो अच्छी तरह कर दिया था न ?" तुरन्त उत्तर दिया, "ना"। ससुरजी ने नाराज होकर कहा, "तो क्या गांव में अपनी 'धूलधाणी'[1] ही कराई ?" लड़के ने बिना किसी हिचकिचाहट के कह दिया, "हां"।

ससुर ने अपना माथा ठोक लिया, पर सोचा कि एक बार सायंकाल इसे इसकी साली-सलहजों के पास और भेजना चाहिए। देखें, वहां कैसी-क्या बात करता है। जंवाई को डेरे भेजकर स्नान-भोजन का प्रवन्ध कर दिया। सायंकाल होने पर ससुरालवालों ने उसे अपने घर बुलाया और हवेली के भीतर बातचीत आदि के लिए भेज दिया। जिस कमरे में जंवाई महाशय गये, वहां अबतक औरतें आई नहीं थीं। अतः वह कमरे में घुसते ही एक ऊंची-सी अलमारी पर चढ़कर बैठ गया, क्योंकि मां की सिखावन थी कि ऊंचे आसन पर बैठना।

साली-सलहजें आईं तो उनको ताज्जुब हुआ कि अभी-अभी जंवाईजी आये थे, गये कहां ? यहां तो दिखाई नहीं पड़ते। इतने में एक सयानी औरत की दृष्टि अलमारी के ऊपर बैठे हुए जंवाई पर पड़ी और उसने कहा, "जंवाईजी, आप ऊपर जाकर क्यों बैठे हैं ?"

लड़के को फिर अपनी मां की सिखावन याद आई कि मीठी बोली बोलना और वह कोयल तथा मोर की नकल करते हुए बोला, "कुहू-कुहू !

१. इज्जत धूल में मिलाना।

पिऊ-पिऊ !"

ससुर की तरह साली-सलहजों ने भी अपना माथा ठोक लिया और कुंवर साहब को किसी तरह अलमारी से नीचे उतारकर डेरे भेजा।

ससुर महाशय ने यह तय किया कि लड़की को इनके साथ न भेजने का अंतिम निर्णय लेने से पहले एक मौका और देना चाहिए कि देखें, यह अपने-आप भी कुछ बात करते हैं—और करते हैं तो किस तरह की तथा कैसी बात करते हैं ?

यह सोचकर प्रातःकाल शौचादि के लिए जंवाई को ले गये नदी किनारे। नदी पर पहुंचे तबतक ससुरजी एक शब्द भी न बोले।

लड़के को मां का यह कहा हुआ याद था कि इधर-उधर कुछ दीख पड़े तो उसके बारे में संक्षेप में बातचीत कर लेना। अतः लड़के ने यह अच्छा मौका माना और चट पूछ बैठा अपने ससुर से, "इस नदी को किसने खुदवाया है।"

ससुर ने समझाया, "नदी कोई खुदवाया नहीं करता, यह तो प्राकृतिक है।"

तब जंवाई ने दूसरा प्रश्न पूछा, "इसमें इतनी सारी मिट्टी निकाली होगी, वह कहां गई ?"

अब ससुर के धैर्य का बांध टूट चुका था। उन्होंने खीजते हुए कहा, "आधी मिट्टी तो तुम्हारे बाप ने फांकी, जिसने तुमको जन्म दिया और आधी मैंने, जिसने तुम्हें अपनी कन्या दी !"

यह कहकर उस लड़के को वहां से निकाल दिया और कहा, "ऐसे मूर्खराज के साथ मैं अपनी कन्या नहीं भेजूंगा।"

लड़का निराश होकर अपने गांव लौट आया। आते ही अपनी मां को उलाहना देने लगा, "मुझे तुमने जिद करके क्यों भेज दिया ? मेरी तो वहां बहुत भद्द हुई और मुझे बैरंग ही लौटा दिया। मैंने तो सबकुछ तुम्हारे कहे अनुसार ही किया था।"

मां के पूछने पर लड़के ने अथ से इति तक सारी कथा बताई। मां को अपने लड़के के भोलेपन पर तो हँसी आई, लेकिन साथ ही अपनी तकदीर पर रोना भी आया। न उससे हँसते बना और न रोते; वह तो काठ की

मूर्ति की तरह खड़ी ही रह गई और उसे यह कहावत याद आ गई—"अकल सरीरां नीपजे दियो लागे डाम।"

इसीसे मिलती-जुलती दूसरे मूर्ख जंवाई की एक छोटी-सी कहानी और है।

जंवाई अपनी पत्नी को लाने के लिए ससुराल गया। उसके पिता ने सरल भाव से कह दिया था कि ससुराल की सारी चीजों की सराहना करना, ऐसी कोई बात न कहना, जिससे वे लोग नाराज हो जायं। जंवाई का कायदा बड़ा होता है, अतः तुम सबसे ऊपर बैठना। लड़के ने अपने पिता की बात की गांठ बांध ली और पहुंचा अपनी ससुराल।

ससुर बीमार थे और एक चारपाई पर लेटे हुए थे। सिरहाने रखी हुई कुर्सी पर उनका लड़का बैठा हुआ था। वहां पहुंचते ही अपने पिता के सिखावन के अनुसार अपने साले को कुर्सी से धकेलकर स्वय उस पर बैठ गया। दोनों बाप-बेटे को गुस्सा तो बहुत आया, लेकिन कुछ बोले नहीं।

अब आई जंवाईजी की बात करने की बारी। उन्होंने सबसे पहले कहा, "आपका स्वास्थ्य बहुत अच्छा लगता है। मैंने तो सुना था, आप बहुत बीमार हैं।"

लेकिन चूंकि ससुरजी थे अत्यन्त बीमार, अतः उन्हें यह बात बहुत बुरी लगी। उन्होंने मन में सोचा, यह आदमी कितना बदतमीज और कितना मूर्ख है! फिर भी कुछ बोले नहीं।

तब जंवाई महोदय ने दूसरा प्रश्न किया, "ससुरजी, जरा यह तो बताइये कि आप दवा किसकी ले रहे हैं?"

ससुरजी ने गुस्से में भरकर कहा "यमराज की।"

चूंकि जंवाई को उसके बाप की सिखावन थी कि ससुराल की हर चीज को' सराहना, इसलिए उस सीख के अनुसार बोला, "आहा, क्या कहना! वह वैद्य तो बहुत अच्छा है। उसके हाथ में यश भी है। मैंने भी उसका नाम सुन रखा है।"

और ऐसा कहकर एक प्रश्न और पूछा, "वैद्यजी आपको दवा क्या देते हैं?"

ससुरजी ने खीझकर कहा, "जहर!"

जंवाईजी ने कहा, "इससे अच्छी तो कोई दवा हो ही नहीं सकती। इस दवाई से आपको अवश्य फायदा होगा।"

ससुरजी गुस्से में भरे तो बैठे थे। यह सुनकर उन्होंने तुरंत अपने दामाद को धक्के देकर घर से निकलवा दिया। दामाद महोदय अपनी तकदीर को रोते हुए वापस घर लौट आये।"

७५ दो गप्पी

गप्प मारना, गप्प लगाना, गप्प हांकना, गप्प-सड़ाका करना अथवा सांठ मारना आदि पर्यायवाची मुहावरे हैं। जब दो आदमी बातें करने बैठ जाते हैं तो उनकी बातें खत्म ही नहीं होतीं। न तो उनकी बातों का कोई सिर-पैर ही होता है, और न उनका कोई ओर-छोर ही। यहां दो गप्पियों के बीच हुई थोड़ी-सी बात बानगी के रूप में दी जाती है, जिससे आप अन्दाजा कर सकें कि गप्पी लोगों के बीच किस तरह की बातें हुआ करती हैं।

एक गप्पी गया दूसरे गप्पी के घर। घर पर वह स्वयं तो नहीं था, लेकिन उसका लड़का घर के बाहर ही खड़ा था। उसके घर के सामने एक मोटा-सा नीम का पेड़ था। आगन्तुक गप्पी ने उस लड़के से पूछा कि तुम्हारा बाप कहाँ गया है तो लड़के ने कहा, "क्यों काका, क्या काम है? वह तो बाहर गया हुआ है, लेकिन कुछ काम हो तो मुझे बतला दो।"

आगन्तुक ने कहा, "काम तो खास क्या पड़ा है, लेकिन तुम्हारे घर के सामने यह जो नीम खड़ा है, इसे मैं उखाड़कर ले जाना चाहता था। पूरा-का-पूरा पेड़ मेरी लाठी के काम आ जायेगा। ज़रा पतला तो है, लेकिन खैर, काम चला लूंगा।"

लड़के ने कहा, "काका, नीम तुमसे अच्छा थोड़े ही है, भले ही ले

जाओ, लेकिन यह तो एक झगड़े के कारण बचा रह गया है, नहीं तो कब का कट चुका होता और वह झगड़ा यह है कि मेरा बाप तो कहता है कि मैं इसे उखाड़कर अपने दांतुन के काम में लूंगा और मेरी माँ कहती है कि मैं इसे अपने 'विलौवने' के लिए झेरनी के काम में लूंगी।"

आगन्तुक निरुत्तर हो गया और वापस अपने घर चला आया। जब लड़के का बाप घर लौटा तो लड़के ने सारी बात बताई। सुनकर बाप ने अपने लड़के को बहुत शाबासी दी और कहा कि अभी से तुममें गप्प मारने का इतना माद्दा है तो मुझे पक्की उम्मीद है कि तुम परम्परा अच्छी तरह निभा सकोगे।

दूसरे दिन वह गप्पी फिर आया तो लड़के का बाप घर पर ही था। इसलिए वे गप्प मारने बैठ गये। पहले ने कहा, "मेरे दादा के पास इतने घोड़े थे कि पृथ्वी के उत्तरी किनारे से लेकर दक्षिणी किनारे तक उनको बाँधने के लिए घुड़साल बनी हुई थी और उस घुड़साल में भी पूरे घोड़े आते नहीं थे। करोड़ों घोड़ों को घुड़साल के बाहर ही बांधना पड़ता था।"

दूसरे ने कहा, "हो सकता है। मेरे दादा के पास भी एक भाला इतना लम्बा था कि जब भी बादल होते, तब मेरा दादा अपने भाले को ऊंचा करके बादलों में घोंप दिया करता था और वे बादल हमारे खेत में बरस पड़ते थे।"

पहले गप्पी ने पूछा, "इतना बड़ा भाला वह रखता कहां था ?"

दूसरे ने कहा, "क्यों, तुम्हारे दादा की घुड़साल थी न, उसमें रख दिया करता था।"

पहले गप्पी ने फिर कहा, "आज तो यार, जब मैं कुएं के भीतर स्नान करने गया तो मुझे एक सोलह हाथ लम्बा मेंढक मिला।"

दूसरे ने पूछा, "वह मेंढक है कहां ?"

पहले ने जवाब दिया, "उसे तो मैं कुएं से बाहर निकलते-निकलते ही निगल गया था।"

पहले गप्पी ने फिर कहा, "कल तो यार मेरा छोटा लड़का मेरी गायें और भैंसें चराने जंगल में ले गया था। वे सैकड़ों की संख्या में थीं। उस वक्त एक चील ने इतने जोरों का झपट्टा मारा कि अपने पंजों में

पकड़कर सारी गाय-भैंसों को उड़ाकर ले गई। लड़के ने आकर मुझे खबर दी तो मैं दौड़ा-दौड़ा गया, लेकिन कुछ पता ही नहीं लगा।''

दूसरे गप्पी ने कहा, ''अरे, वे गाय-भैंसें तेरी थीं क्या ? हुआ यह कि मेरी पत्नी जब कल सुबह छत पर स्नान करने बैठी थी तो अपने सारे-के-सारे जेवर खोलकर वहीं रख दिये थे। तुम जानते ही हो कि चील को सोने का बेहद शौक होता है। एक चील ने मेरी स्त्री के 'बोरले' पर झपट्टा मारा तो उसके पंजों से बहुत-सी गायें और भैंसे छूटकर गिर पड़ी थीं, जिनको तुम्हारी भाभी ने एक डिबिया में बन्द करके अपनी अंगिया में खोंस लिया था। हवेली के भीतर जाकर अपनी गायें और भैंसें अपनी भाभी से मांग लो।''

अब भाभी की बारी थी। वह कान लगाये सारी बात सुन रही थी। जब देवर हवेली के भीतर गया और अपनी गाय-भैंसों की मांग की तो भाभी ने कहा, ''बात यह है मेरे देवर, कि एक मक्खी कल दुपहर में मुझे बहुत तंग कर रही थी। जितनी ही दफे उसे उड़ाया, उतनी दफे बार-बार आकर कभी मेरे हाथ पर और कभी पांव पर बैठ जाती थी। मैंने उसे उड़ाने के लिए वह डिबिया उस पर फेंकी तो वह मक्खी उस डिबिया को साथ लिये हुए ही उड़ गई और कहां गई, पता ही नहीं लगा। मुझे सख्त अफसोस है मेरे देवर, तुम्हारा इतना बड़ा नुकसान हो गया।''

गप्पी महाशय तो बहुत ही झेंप गये और अपने घर लौट आये।

इस तरह की बिना ओर-छोर तथा बिना सिर-पैर की बातें गप्पी लोगों में हुआ करती हैं। गप्पी दूसरे गप्पी को यह कभी नहीं कहा करता कि तुम झूठ बोल रहे हो, क्योंकि उनकी आचार-संहिता के अनुसार यह गलत है। गप्पी लोग अपनी तर्क से एक-दूसरे की बात को काटा करते हैं।

७६ चमारिन और चूड़ियां

एक चमार था। मेहनत-मजदूरी करता था। उसकी थोड़ी-सी खेती भी

थी, लेकिन मुश्किल से पेट का गुजारा चलता था। चमारिन को चांदी की दो चूड़ियां पहनने का बहुत शौक था, लेकिन जहां पेट-भराई ही मुश्किल से हो, वहां चांदी की चूड़ियां कहां से आवें? एक साल जमाना अच्छा हुआ। गांव में 'चेजा-भाठा'[1] खूब चला चला तो चमार और चमारी को पूरे वर्ष मजदूरी मिल गई। अबतक उनका बेटा भी सयाना हो गया था और वह भी मजदूरी पर जाने लगा था, अतः उसका हाथ थोड़ा 'उरला'[2] हो गया था। अपनी पत्नी का शौक पूरा करने के लिए चमार ने दो पतली-पतली चूड़ियां बनवा दीं। उन्हें पहनकर वह तो निहाल हो गई। सारी उमर की तमन्ना पूरी हो गई उसकी तो। वह सारे गांव में घर-घर उन चूड़ियों को दिखाती फिरी, लेकिन भाग्य की बात, किसी ने उन चूड़ियों की सुन्दरता को सराहा नहीं।

अब तो उसे बहुत निराशा हुई और अपने घर आकर उसने अपनी ही झोंपड़ी में आग लगा दी। आग लगाकर बाहर आकर बैठ गई और जोर-जोर से लोगों को सुना-सुनाकर रोने लगी कि हाय रे, मेरा तो सब-कुछ स्वाहा हो गया। बस, केवल चूड़ियां-चूड़ियां बची हैं। आग बुझाने को जो लोग आये, उनमें स्त्रियाँ भी थीं। सभी ने उसे ढाढ़स दिया, मदद देने की बात भी कही। इतने में एक स्त्री ने कहा, "तुम्हारी चूड़ियां बनी तो बहुत सुन्दर हैं और तुम्हारे हाथों की शोभा तो इन चूड़ियों को पहन-कर बहुत बढ़ गई है।"

चमारिन खुश हो गई, लेकिन तुरन्त ही उसे अपनी झोंपड़ी जलने की बात याद आ गई तो उदास हो गई और बोली, "हाय रे, पहले ही कोई कह देता तो इस झोंपड़ी के जलने की नौबत क्यों आती! खैर, कोई बात नहीं, आखिर मेरी चूड़ियों की सराहना हुई तो सही।"

ऐसा कहकर चमारिन ने संतोष कर लिया।

प्रशंसा सुनने का शौक छोटे-बड़े सभी को होता है। कोई एक तरह की प्रशंसा सुनना चाहता है, तो कोई दूसरी तरह की। धनी आदमी अपने धन की प्रशंसा सुनकर खुश होता है, तो पंडित अपनी विद्वत्ता की; लेखक

१. चिकनाई आदि का काम। २. पैसे से खुला।

अपनी लेखन-शैली और शब्द-चयन की प्रशंसा सुनना चाहता है तथा वक्ता अपने व्याख्यान की।

स्त्रियों में अधिकांश ऐसी होती हैं, जो अपने रूप-रंग और गहने-कपड़े की प्रशंसा सुनकर खिल उठती हैं, यहां तक कि साधू भी चाहे-अनचाहे, जाने-अनजाने, अपनी प्रशंसा सुनकर खुश होता है, तो फिर बेचारी चमारिन का ही क्या दोष ! उसके पास तो प्रशंसा सुनने के लिए दो चूड़ियां ही थीं। कहा भी है :

कंचन तजवो सहज है, सहज तिया को नेह।
मान वड़ाई ईर्ष्या, तुलसी दुर्लभ येह।।

७७ राई का भाव रात गया

एक वनिया था। वह और उसकी पत्नी रात को जब सोये हुए थे, तो कुछ चोर उनके घर में घुस आये। वनिये की इतनी हिम्मत तो थी नहीं कि वह उनका सामना कर ले, इसलिए उसने अपनी पत्नी को जगाया और उसके साथ कान में वात करके तत्काल एक तरकीब सोची और तय किया कि इन चोरों को चकमा देना चाहिए।

बनिये ने चोरों को सुनाते हुए जोरों से अपनी पत्नी से कहा, "सुनती हो, रामू की मां, मैंने आज दिन में जो हांडी भरकर राई लाकर दी थी, उसको वहुत सँभाल कर रखा है न ?"

वनिये की पत्नी वोली, "मैंने तो उसे योंही रसोई की टांड पर रख दिया है।"

वनिये ने कहा, "मैंने तुम्हें इतनी 'भोलावण' दी थी कि कल ही इसकी कीमत वहुत ज्यादा होने वाली है, क्योंकि देश-विदेश से इसकी मांग आने-वाली है और एक हाँडी राई की कीमत लाखों रुपये होगी। राई का एक नया उपयोग निकला है। यह तो मुझे किसी तरह सुराग लग गया था और

दूसरों को पता नहीं लगा था, इसलिए मैं इतनी सारी राई इकट्ठी कर सका था और एक तुम हो कि उसे इस तरह चौड़े ही रख दिया है। अगर वह हांडी किसीके हाथ लग गई तो मेरा तो भाग्य ही फूट जायगा। ऐसा काम किया है तुमने, जैसे कोई आयी हुई लक्ष्मी को ठोकर मार दे। फिर भी इतनी खैरियत जरूर है कि रात का वक्त है, अतः कोई आनेवाला नहीं है। और अगर कोई आया भी तो राई को कौन हाथ लगायेगा! इसके मूल्य-वान होने का किसी को पता थोड़े ही है, लेकिन कल प्रातःकाल इसे अवश्य तिजोरी में रख देना।"

रामू की मां ने कह दिया, "ऐसा ही करूंगी।"

उसके बाद दोनों में कोई भी एक शब्द बोला नहीं। चोरों ने सारी बात सुन ली और उन्होंने सोचा, क्यों फिजूल दूसरी चीजों के फेर में पड़ते हो, अपन तो वह राई की हांडी ही ले चलें। अपना भाग्य चमक उठेगा।

उसीके अनुसार वे धीरे-से रसोई खोलकर उस राई से भरी हांडी को उठाकर चल दिये।

बनिये की बुद्धिमत्ता से घर में धन की चोरी होते-होते रह गई।

दूसरे दिन वे चोर बाजार में गये और फिर-फिरकर जब राई का भाव पूछने लगे तो राई के भाव तो जो चले आते थे, वही थे। उसीके अनु-सार सारे दुकानदारों ने उनको भाव बता दिये। चोरों को ताज्जुब हुआ, यह क्या बात है। राई के दाम आज तो बहुत ज्यादा होने चाहिए थे।

उन्हें पता नहीं था कि वे उस बनिए द्वारा ठगे गए हैं, शीशी में उतारे गये हैं। वे तो सारे बाजार में राई के भाव पूछते फिरे। आखिर फिरते-फिरते उस बनिये की दुकान भी आ गई, जिसके घर में उन्होंने राई की चोरी की थी।

उस दुकानदार से चोरों ने पूछा, "क्योंजी, राई के क्या भाव हैं?"

उसने हँसकर कहा, "मेरे भाई, 'राई के भाव तो रात गये', अब राई के भाव क्या पड़े हैं?"

चोर सारी बात समझ गये और सिर धुनते हुए वापस अपने रास्ते चले गये।

७८ करम-गति टारी नांहि टरै

एक वारहठजी थे। अच्छे गुणी थे। राज-दरवार में उनका सम्मान भी था, लेकिन 'नाम मोटा घर में टोटा' की उक्ति उनपर लागू होती थी। वारहठजी की पत्नी चतुर थी और थी 'घरखेवा'[१] भी। अतः जितना-सा कुछ प्राप्त होता, उसीमें वह अपना दाल-दलिया चला लेती और किसीको पता नहीं लगने देती कि उसका घर 'थाकेल'[२] है।

एक वार की वात है, वारहठजी को कई दिनों से गेहूं के दर्शन नहीं हुए। उन्हें केवल मोठ पर ही गुज़ारा करना पड़ रहा था। मोठ खाते-खाते वारहठजी ऊव गये तो उन्होंने सोचा कि चलो, वीकानेर के महाराज के पास चलें। वे अपनेको खूव मानते हैं। दो-चार दिन वहां रहेंगे तो अच्छी तरह खाना-पीना करेंगे।

यह सोचकर वारहठजी गये वीकानेर के महाराज के पास। वहां पर महाराज ने उनकी खातिरदारी की। भोजन के समय महाराज ने सोचा कि वारहठजी इतने 'मानीते'[३] आदमी हैं कि गेहूं तो रोज ही खाते होंगे। आज यह अपने यहां आये हैं तो नये मोठों की रोटी इन्हें देनी चाहिए। नये मोठ राजाजी के खेत से दो-चार दिन पहले ही आये थे और वहुत अच्छी जात के। वाहरठजी को जव मोठ की रोटी परोसी गई तो उन्होंने अपने-मन में कहा :

कुछ करणी, कुछ करम गति, कुछ भावी को खोट।
गेहूं नै उमग्यो फिरै, लिख्या करम में मोठ॥

१. घर-गृहस्थी को ढंग से चलानेवाली। २. थका हुआ, कमजोर।
३. मान्य, सम्माननीय।

७६ पल्ला-झाड़ कथा

एक राजा था। वह मंदिर में नित्य-प्रति कथा कराया करता था, कभी महाभारत की और कभी रामायण की। उसने यह नियम बना रखा था कि गांव के प्रत्येक कुटुम्ब का एक आदमी कथा सुनने के लिए अवश्य जाय।

श्यामसुन्दर नाम का एक दुकानदार रोज कथा में जाया करता था। एक दिन उसके यहां 'पावड़े' आ गए, तो वह नहीं जा सका। उस दिन उसने अपने लड़के को कथा में भेज दिया।

कथा में एक प्रसंग आया कि चरती हुई गाय को कभी भगाना नहीं चाहिए।

दूसरे दिन लड़के ने अपनी दुकान खोली और बेचने के लिए अनाज बाहर लाकर रखा तो संयोग से एक गाय आ गई और अनाज खाने लगी। लड़का चुपचाप बैठा देखता रहा। गाय ढेर-सा अनाज खा गई कि इतने में उसका पिता वहां आ पहुंचा।

गाय को इस तरह मजे में अनाज खाते देख और अपने लड़के को उसके सामने चुपचाप बैठा हुआ देख उसको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने गाय को तो भगा दिया और अपने लड़के को धमकाया कि अरे मूर्ख, गाय इतना अनाज खा गई और तू इस तरह पत्थर की तरह बैठा देख रहा है! तुझसे गाय भगाते भी नहीं बना!"

लड़के ने कहा, "बापूसा, गाय को भगा तो क्यों नहीं सकता था, लेकिन मैं कल ही कथा सुनकर आया हूं कि चरती हुई गाय को कभी भगाना नहीं चाहिए। इसलिए कैसे भगाता?"

'बापूसा' को हँसी आ गई और उन्होंने कहा, "अरे मूर्ख, कथा की बात व्यावहारिक जीवन के लिए नहीं हुआ करती है। कथा तो सुनने को ही होती है, अमल में लाने की नहीं। कथा तो सुनी और आते समय वहीं पल्ला झाड़कर आ गये। कथा की बात पल्ले बांधकर कभी नहीं लानी चाहिए।"

बेचारे लड़के को समझ में नहीं आया कि 'बापूसा' सही कह रहे हैं या पंडितजी सही कह रहे थे।

८० बनिया और भैंरूं बाबा

हिन्दू नारी के लड़का न होना आमतौर पर बड़े पाप का फल माना जाता है। अपवाद-स्वरूप कुछ स्त्रियों को छोड़कर अधिकांश के मन में लड़का होने की बहुत लालसा रहती है। जिस स्त्री के लड़का नहीं होता, वह अपने को अभागिन मानती है। लड़के के लिए भांति-भांति के जादू-टोनों और जंतर-मंतर का भी आश्रय भी वे लेती हैं। पूजा-पाठ कराती हैं, देवी-देवताओं की मनौतियां मानती हैं।

स्त्रियों की तरह तो नहीं, किन्तु पुरुष के मन में भी यह चाह घर किये रहती है कि लड़का तो उसे हो ही हो, जिससे कि वंश आगे बढ़ सके। गोस्वामी तुलसीदास ने दशरथ के मंह से यह भी कहलाया है: 'भई गलानि मोरे सुत नाहीं।' हिन्दू समाज के पुराने लोगों के मन में यह संस्कार भी घर किये हुए हैं कि निपूते आदमी की सद्‌गति नहीं होती। 'निपूता', 'निपूती' शब्द गाली देने में भी बोले जाते हैं, यहां तक देखने में आता है कि बाज-बाज स्त्रियां जादू-टोना करने वालों के चक्कर में आकर अपने अज्ञान और मोहवश नग्न होकर निकल जाती हैं और गांव के बाहर जहां कच्ची बस्ती होती है वहां कई घर फूंक आती हैं। हमारे पुराने कई ग्रंथों में भी इस इस तरह के अज्ञान-भरे वचन लिखे हुए हैं कि जिसके लड़का नहीं होता, उसे सद्‌गति प्राप्त नहीं होती और जो लोग संस्कृत में लिखे हुए हर अक्षर को वेद-वांक्य मानते हैं, उनकी बुद्धि ऐसे वचनों से भ्रमित हो जाती है। वे लोग तो एक क्षण के लिए भी नहीं सोचते कि तथ्य क्या है और क्या नहीं।

रामलाल नामक एक बनिये के घर का कुछ-कुछ ऐसा ही हाल था। उसकी स्त्री ने कई तरह के जादू-टोनों का, जतंर-मंतर का, सहारा लिया।

अनेक देवी-देवताओं की मनौतियां मानीं, प्रसाद वोला, कई तीर्थ-व्रत किये, किन्तु उसके लड़का नहीं हुआ सो नहीं हुआ।

आखिर एक मित्र ने रामलाल को सुझाया कि अपने गांव के वाहर भैंरूंजी का जो स्थान है, वहां जाकर एक भैंसा चढ़ाने की मानता तुम वोल दो, तो निःसंदेह तुम्हें लड़का हो जायगा। उस भैंरूं वावा का कुछ ऐसा ही प्रताप है कि उसके द्वार से कोई खाली हाथ नहीं लौटता।

रामलाल गया भैंरूंजी के स्थान पर और अपने मित्र के कहे अनुसार वोलवा वोल दी। उसे यह ज्ञान भी न रहा कि वह वैष्णव है, अहिंसा धर्म का माननेवाला है, यह मानता वह कैसे पाड़ सकेगा? लेकिन 'आरत के चित रहहि न चेतू' जैसी गति थी उसकी, अतः विना आगे-पीछे का विचार किये उसने 'हां' कर दी।

भैंरूं वावा का तो खैर क्या प्रताप था, किंतु योगायोग की वात कि उसकी पत्नी के गर्भ रह गया और दसवें महीने में उसे एक लड़का हो गया।

उसकी पत्नी ने और उसने वैठकर विचार किया कि अव करें तो क्या करें। वैश्य जाति के हैं। अपना भैंसा वलि देने का या दिलाने का पाप तो कर नहीं सकते, लेकिन साथ ही उसे यह विचार भी कुरेदने लगा कि वोलवा वोली हुई है, इसलिए उसके अनुसार काम न करने से अनिष्ट भी हो सकता है।

पत्नी ने कहा, "कल सवेरा होने से पहले ही तुम जाकर एक भैंसा भैंरूं वावा की मूर्ति से वांध आओ। यदि वावा वलि लेना चाहेगा तो अपने आप ले लेगा। अपन न तो भैंसा मारेंगे और न भैंसा मारने के लिए किसी को कहेंगे। इस तरह पाप से भी वच जायंगे ओर वोलवा का निर्वाह भी हो जायगा।"

पत्नी की सलाह पति को जंच गई और उसने ऐसा ही किया।

भैंरूं वावा तो आखिर एक प्रस्तर-मूर्ति ही थे, वे क्या सुनते!

प्रातःकाल हुआ तव भैंसा चौंक उठा और अपने छूटने का यत्न करने लगा। कूदने-फांदने लगा और रस्सा तोड़ने के लिए जोर लगाने लगा। नतीजा यह हुआ कि रस्सा तो नहीं टूटा, लेकिन भैंरूंजी की मूर्ति उखड़ गई।

अपने को मुक्त पाकर भैंसा बाहर की तरफ दौड़ा। आगे-आगे भैंसा और पीछे-पीछे घिसटती हुई भैंरूंजी की प्रतिमा।

थोड़ी दूर जाने पर उस बनिये के पड़ोसी ने भैंरूंजी की प्रतिमा सहित दौड़ते हुए भैंसे को देखा। उसे तो सारी बात का पता ही था। अतः उसने कहा, "भैंरूं बाबा, तुम भी याद रखोगे कि किसी बनिये से पाला पड़ा था।"

८१ ▥ बनिये की बुद्धि-चातुरी

लाला लखपतलाल दिल्ली के रहनेवाले थे। नाम के अनुसार ही वे घर के भी लखपति थे, लेकिन स्वभाव से इतने कंजूस थे कि स्वयं तो किसी को कुछ भी देने का सवाल नहीं था, उल्टे दूसरे किसी व्यक्ति को भी अगर वे कुछ दान-पुण्य करते देखते, तो उनका दिल बैठ जाता था।

एक दिन जब वह दुकान से लौट रहे थे, तो देखते क्या हैं कि उनके एक पड़ोसी के यहां याचकों की भीड़ लगी हुई है और वह पड़ोसी तथा उसकी पत्नी खुले-हाथों, प्रसन्न-चित्त से, उन याचकों को अन्न, वस्त्र और नकद रुपये बांट रहे हैं।

लाला लखपतलाल का मन बड़ा खिन्न हो गया और वे उदास मुंह लिये अपने घर चले आये।

घर पहुंचे तो उनकी पत्नी ने पूछा :

"का कछु गांठी ते गिर्‌यौ, का काहू को दीन।
सूमण पूछै सूम से, काहे चित्त मलीन ?"

लाला ने उत्तर दिया :

"ना कछु गांठी ते गिर्‌यौ, ना काहू को दीन।
देवत देख्यौ और को, याते चित्त मलीन।"

पत्नी ने कहा, "इसमें आपके उदास होने की या जी छोटा करने की

क्या वात है ! हमारी ओर से कोई कुछ भी किया करे।''

लाला ने कहा, ''तुम मेरे मन की व्यथा नहीं समझ सकतीं।''

लाला के इसी मनहूस स्वभाव के कारण शहर के लोगों ने उन्हें 'सूम' की उपाधि दे रखी थी।

लाला की पत्नी स्वयं कंजूस नहीं थी, लेकिन अपने पति के स्वभाव के कारण उसे भी लोग 'सूमण' कहने लग गये थे।

वह वेचारी अपने पति के डर से अधिक तो कुछ नहीं कर सकती थी, लेकिन फिर भी लुके-छिपे थोड़ा वहुत दान-धर्म करती ही थी। एक वार उसने अपने पति के नाम पर एक गाय भी दान में दी थी।

लखपतलाल कंजूस था सो तो था ही, इसके अलावा वह लोभी इतना था कि पैसा कमाने के काम में वह सच-झूठ, नीति-अनीति में कोई भेद नहीं मानता था। तराजू की डंडी मारना, नाप में कम-ज्यादा देना-लेना, ऊंचे व्याज पर रुपया उधार देना, उसका नित्य का ही धंधा था। जिस आदमी ने एक वार उससे रुपया उधार ले लिया, वह सदा-सदा के लिए उसके रहन हो गया, ऐसा लोग मानते थे।

राजस्थानी में एक कहावत है, 'चाम में से दाम कोनी नीकले', लेकिन लखपतलाल को यह कहावत लागू नहीं पड़ती थी। चाम में से दाम निकालने की तो वात ही क्या, यह लाला तो मरे हुए आदमी का मसान कूटकर भी अपने रुपये वसूल करता था। उसे लोक-परलोक का कोई भय नहीं था। पाप करने से वह डरता नहीं था। उसने कभी यह सोचा भी नहीं था कि एक दिन मरना है और मरकर भगवान के दरवार में अपने पाप-पुण्य का लेखा देकर उसका फल भी भुगतना है।

लेकिन कोई सोचे या न सोचे, 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' के अनुसार हर प्राणी मरणशील तो है ही। एक दिन ऐसा आया कि लाला लखपत-लाल के तन से हंसा उड़ गया।

यमदूतों ने लालाजी को लेजाकर यमराज के सामने हाजिर किया। यमराज ने चित्रगुप्त से लाला के पाप-पुण्य का लेखा पूछा।

चित्रगुप्त ने वही देखकर कहा, ''महाराज, इस वनिये ने तो जीवन में पाप-ही-पाप किये हैं। इसके खाते में तो नांवे-ही-नांवे की कलमें हैं, मजा

के नाम पर तो केवल एक गाय का दान जमा है।"

यमराज ने वनिये की तरफ देखकर कहा, "वनिये, तुम्हें सातवें नरक में याने कुम्भी पाक नरक में जाना होगा; लेकिन यह गाय जो तुम्हारे सामने खड़ी है, दो घड़ी तुम्हारे कहे में रहेगी। इससे कुछ काम लेना हो तो ले सकते हो। दो घड़ी होने पर मेरे दूत तुम्हें कुम्भी पाक नरक में ले जायंगे।"

वनिये का दिमाग तो वनिये का दिमाग ही था। उसके उपजाऊपन का क्या कहना! उसने तुरन्त सोच लिया कि इन दो घड़ियों का उपयोग कैसे करना है। वह मुस्कराकर यमराज से बोला, "महाराज, वनिये के लिए दो घड़ी का समय तो काफी होता है। उसे तो एक वार अवकाश मिलना-भर चाहिए। हमारे यहां एक कहावत है, 'वाणिये ने वारा पुन्यूं में एक पन्यूं मिल जाय तो घणी ई'।"

ऐसा कहकर वह वनिया गाय को सम्बोधन करके बोला, "हे गौमाता, यमराज के पेट में सींग घुसेड़कर इसे मार डाल।"

वनिये का इतना कहना था कि वह गाय यमराज को मारने के लिए दौड़ी। वनिये ने गाय की पूंछ पकड़े रखी यमराज ने गाय का सामना नहीं किया, क्योंकि उन्हें भय लगा कि अगर मेरे हाथ से गाय मर गई तो गौ-हत्या का पाप सिर पर चढ़ जायगा, जिसका कोई प्रायश्चित्त नहीं है। अतः वे आगे होकर भागे।

यमराज ने हमारे मृत्युलोक की यह कहावत भी सुन रखी थी कि 'गायां मायां, वामणां भाग्या ही भला।' गौहत्या, ब्रह्महत्या और भातृ-हत्या को जघन्य पाप माना गया है। वेदों में भी गाय के लिए 'अघ्न्या' शब्द आया है, याने जिसका वध सर्वदा निषिद्ध है।

नीति का वचन है कि गौ, ब्राह्मण और भाई लोगों का कभी सामना नहीं करना चाहिए। इनके साथ कभी वैर नहीं ठानना चाहिए।

यमराज भागे-भागे कैलास पर्वत पर गये। शिवजी ने शरण देने से इन्कार कर दिया। तब वह गये ब्रह्मलोक में। ब्रह्माजी ने भी गौ को वड़ा माना और यमराज को शरण देने से इन्कार कर दिया।

अब तो यमराज की हालत इन्द्र के पुत्र जयन्त के समान हो गई, जब-

कि वह भगवान राम के वल की थाह लेने के लिए काग वन कर सीतामाता के पांव में चोंच मारकर भागा था और राम ने एक तिनका उठाकर उसके पीछे फेंक दिया था, जिससे भयभीत होकर वह तीनों लोकों में भागता फिरा था, लेकिन उसे कहीं भी शरण नहीं मिली थी।

आखिर यमराज गये विष्णुलोक में। आगे-आगे यमराज, उनके पीछे-पीछे वह गाय और गाय की पूंछ पकड़े हुए वह बनिया।।

वे लोग विष्णु भगवान के सामने पहुंचे, तवतक दो घड़ी का समय बीत चुका था, अतः वह गाय शिथिल हो गई।

यमराज के जी-में-जी आया और उन्होंने वनिये से नरक में चले जाने को कहा।

वनिये ने कहा, "क्षण-भर ठहरो!"

फिर वह बनिया विष्णु भगवान की ओर मुड़कर बोला, "महाराज, जब मैं मृत्युलोक में था, मेरे पड़ोस में एक ब्राह्मण रोज विष्णुसहस्रनाम का पाठ किया करता था। भागते-दौड़ते कभी-कभी मेरे कान में भी उस पाठ की भनक पड़ जाती थी। उसमें कहा कहा है—यस्य स्मरणमात्रेण जन्मसंसारबंधनात्। विमुच्यते नमस्तस्यै विष्णवे प्रभविष्णवे।"

वनिये ने आगे और कहा, "महाराज, वेदव्यासजी द्वारा भीष्म पितामह के मुंह से कहलाया हुआ विष्णुसहस्रनाम झूठा थोड़े ही है। आपके नाम के स्मरण मात्र से मनुष्य का हर तरह के दुःखों से छुटकारा लिखा है, यहां तक जन्म-मरण के दुःख से भी छूटने की वात कही गई है, तो मैं तो प्रत्यक्ष आपके दर्शन कर रहा हूं। आपके सामने खड़ा हूं।"

गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी वाली के मुंह से कहलाया है:

"जनम-जनम मुनि जतन कराहीं, अंत राम कहि आवत नाहीं।।"

मन लोचन गोचर सोइ आवा। वहुरि कि अस प्रभु वनहि बनावा।।"

वनिये ने अंत में विष्णु भगवान से पूछा, "प्रभु, अजहूं मैं पातकी, अंत काल गति तोर?"

भगवान विष्णु मुलके और 'वालि सीस परसेउ निज पानी' के अनुसार उन्होंने वनिये के शीश पर अपना वरद हस्त रख दिया और बोले, "अहं त्वा

सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः"।[1]

इसके बाद यमराज को वहां से चले जाने का इशारा किया, तब यम-राज कूके, "जम से जव्वर वाणियूं।"

वह कूक इतने जोरों की थी कि मर्त्य लोक तक सुनायी पड़ी और वह वाक्य एक कहावत बन गया, जो कि आज भी प्रचलित है।

बनिये की बुद्धि-चातुरी देखकर विष्णु भगवान और लक्ष्मीजी दोनों इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने उसे अपने सलाहकार-मंडल में स्थान दे दिया।

वह बनिया आज भी विष्णु भगवान के सलाहकार-मंडल का एक प्रमुख सदस्य है और बहुत ही दक्षतापूर्वक अपना काम कर रहा है। बनिया होने के कारण ही वह लक्ष्मी का 'लाड़ला' है।

●

१. "मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूंगा, अतः शोक मत कर !"

'मंडल' का

कथा-कहानी साहित्य

महाभारत कथा
राजाजी की लघु कथाएं
दशरथनंदन श्रीराम
युगान्त
विनोबा की बोध-कथाए
भागवत कथा
ब . मन्त्रों के प्रकाश में
रामकीर्ति
सप्तदशी
खण्डित पूजा
प्रकाश की रेखा
दिव्य जीवन की झांकियां
देवी का दान
बहता पानी निर्मला
हिंदुओं के व्रत और त्यौहार

